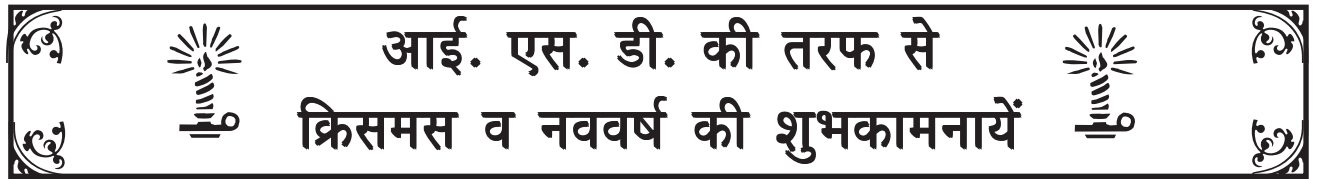


समरथ



नवम्बर — दिसम्बर 2006

नई दिल्ली



नाहि तो जनम नसाई

शांति और सद्भाव के सपने को लेकर प्रकाशित होने वाली पत्रिका का कोई अंक यदि दिसम्बर के महीने में छपे तो निश्चित रूप से उस अंक के साथ अतीत की कुछ अत्यंत दुखद घटनाएं जुड़ जायेंगी।

3 दिसम्बर 1984 भोपाल गैस त्रासदी खूनी यूनियन कार्बाइड के एक प्लांट में ज़हरीली गैस के रिसाव से रातों-रात हज़ारों मौतें। यह वही यूनियन कार्बाइड है जिसके विज्ञापन में श्री अमिताभ बच्चन आपको अकसर नज़र आयेंगे।

6 दिसम्बर 1992 बाबरी मस्जिद विध्वंस रथयात्रा द्वारा उन्माद फैलाकर विध्वंस की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले श्री लालकृष्ण आडवाणी को बाबरी मस्जिद गिराये जाने का अफसोस है और हमें उनके अफसोस पर आश्चर्य ? हंसी ? गुस्सा ? सबकुछ ? या फिर कुछ भी नहीं क्योंकि उनसे उम्मीद भी यही है।

13 दिसम्बर 2001 भारतीय संसद पर आतंकवादी हमला अमरीका से भी ऊंचे स्तर में आतंकवाद के खिलाफ युद्ध का नारा लगाने वालों की सरकार, प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी, गृहमंत्री और उप प्रधानमंत्री श्री लालकृष्ण आडवाणी, और उनके कार्यकाल में आतंकवादी संसद में आ धमके और उन्हें इसकी खबर तक न हो पायी।

जो भी हो दिसम्बर का महीना भारतीय इतिहास में त्रासदी का महीना ही कहा जायेगा। इन घटनाओं में इंसान ही मरे। उन्हें एक बार फिर हमारी श्रद्धाञ्जली।

शायद हमारी याद्दाश्त रोज़-बरोज़ छोटी होती जा रही है, या फिर अब हमें यह घटनाएं झकझोरती नहीं। यह भी संभव है कि हमने अपनी प्रतिक्रियाएं, आक्रोश और संवेदनाएं आने वाली किसी बड़ी त्रासदी के लिए बचा रखी हो.....

ज़रूरी है कि हम अपने इतिहास को याद रखें। ज़रूरी है कि हम इतिहास से सीख लें और यह भी ज़रूरी है कि हम संकल्प लें कि हर त्रासदी और हर जुल्म के खिलाफ़ उठ खड़े होंगे।

मसला सिर्फ़ खून से लथपथ त्रासदियों में तबाही और बर्बादी का नहीं है। मसला ऐसी त्रासदियों का भी है जिसे आमतौर पर त्रासदी नहीं माना जाता। कभी-कभी तो इसे तरक्की भी माना जाता है। लेकिन इतिहास और समाज पर नज़र रखने वाले लोग इस त्रासदी की हकीकत समझते हैं। मुश्किल सिर्फ़ हकीकत समझने के बाद भी चुप्पी साधने में है। साहिर की प्रस्तुत नज़्म इस हकीकत को और भी उजागर करती है। हम आज़ादी से लेकर आज तक त्रासदियों से ही घिरे रहे हैं। हमने आवाज़ें भी बुलंद की हैं, संघर्ष भी किए हैं। ज़रूरत है संघर्ष तेज़ करने की। चुनौतियों को नए सिरे से स्वीकार करने की।

हमारा कर्तव्य है इस चुनौती के खिलाफ़ संघर्ष करें और उन संघर्षों का हिस्सा बनें जो शांति, सद्भाव के लिए हैं, भूख, बेरोज़गारी और इंसान द्वारा इंसानों से नफ़रत के खिलाफ़ है।

साथियों! मैंने बरसों तुम्हारे लिए
चांद, तारों, बहारों के सपने बुने

हुस्न और इश्क़ के गीत गाता रहा
आरजूओं के¹ ऐवों² सजाता रहा
मैं तुम्हारा मुग़न्नी³, तुम्हारे लिए
जब भी आया नये गीत लाता रहा

आज लेकिन मेरे दामने-चाक में⁴
गर्दे-राहे-सफ़र के⁵ सिवा कुछ नहीं
मेरे बरबत के⁶ सीने में नग्मों का दम घुट गया है
तानें चीखों के अम्बार में दब गई हैं
और गीतों के सुर हिचकियां बन गए हैं
मैं तुम्हारा मुग़न्नी हूं, नग्मा नहीं हूं
और नग्मे ही तख़्लीक़ का⁷ साज़ो-सामाँ
साथियों! आज तुमने भसम कर दिया है

और मैं अपना टूटा हुआ साज़ थामे
सर्द लाशों के अम्बार को तक रहा हूं
मेरे चारों तरफ़ मौत की वहशतें नाचती हैं
और इन्सान की हैवानियत जाग उठी है
बर्बरियत⁸ के खूंख़ार इफ़रीत⁹
अपने नापाक जबड़ों को खोले
खून पी-पी के गुरा रहे हैं।
बच्चे माओं की गोदों में सहमे हुए हैं
इस्मतें¹⁰ सर-बरहना¹¹ परीशान हैं
हर तरफ़ शोरे-आहो-बुका¹² है

और मैं इस तबाही के तूफ़ान में
आग और खून के हैजान¹³ में,
सरनिगूं¹⁴ और शिकस्ता मकानों के मलबे से पुर रास्तों पर
अपने नग्मों की झोली पसारे
दर-ब-दर फिर रहा हूं
मुझको अम्न और तहज़ीब की भीक दो
मेरे गीतों की लै, मेरे सुर, मेरी नै¹⁵
मेरे मजरूह¹⁶ होंटों को फिर सौंप दो

साथियों! मैंने बरसों तुम्हारे लिए
इन्क़लाब और बगावत के नग्मे अलापे
अजनबी राज के जुल्म की छाओं में
सरफ़रोशी के¹⁷ ख़्वाबीदा जज़्बे¹⁸ उभारे
और उस सुबह की राह देखी
जिसमें इस मुल्क कही रूह आज़ाद हो

आज जंजीरे-महकूमियत¹⁹ कट चुकी है
और इस मुल्क के बहरो-बर²⁰, बामो-दर²¹
अजनबी कौम के जुल्मत-अफ़शा फरेरे²² की मनहूस
छाओं से आज़ाद है।
खेत सोना उगलने को बेचैन हैं
वादियाँ लहलहाने को बेताब है
कोहसारों के²³ सीने में हैजान²⁴ है
संग और ख़िशत²⁵ बेख़्वाबों-बेदार²⁶ हैं
उनकी आंखों में तामीर के²⁷ ख़्वाब हैं
उनके ख़्वाबों को तकमील का²⁸ रूप दो

मुल्क की वादियाँ, घाटियाँ, खेतियाँ
औरतें, बच्चियाँ
हाथ फैलाए ख़ैरात की²⁹ मुन्तज़िर³⁰ हैं
उनको अम्न और तहज़ीब की भीक दो
माओं को उनके होंटों की शादाबियाँ
नन्हे बच्चों को उनकी खुशी बख़्श दो
मुल्क की रूह को ज़िन्दगी बख़्श दो
मुझको मेरा हुनर³¹, मेरी लै बख़्श दो
मेरे सुर बख़्श दो, मेरी नै बख़्श दो

आज सारी फ़जा³² है भिकारी
और मैं इस भिकारी फ़जा में
अपने नग्मों की झोली पसारे
दर-ब-दर फिर रहा हूं
मुझको फिर मेरा खोया हुआ साज़ दो
मैं तुम्हारा मुग़न्नी, तुम्हारे लिए
जब भी आया, नये गीत लाता रहूंगा।

(11 सितम्बर, 1947 आकाशवाणी, दिल्ली)

1. आकांक्षाओं के, 2. महल, 3. गायक, 4. फटी हुई झोली में, 5. यात्रा के मार्ग की धूलि, 6. साज़ के, 7. रचना का, 8. बर्बरता, 9. हिंसक देव, 10. सतीत्व, 11. सिर से पैर तक नंगी, 12. आर्तनाद, 13. प्रचंडता, 14. सिर झुकाए, 15. बांसुरी, 16. घायल, 17. सिर बेचने (मरने) के, 18. सोई हुई भावनायें, 19. परतंत्रता की जंजीर, 20. सागर और धरती, 21. छतें और दरवाजे, 22. अंधकार फैलाते हुए झंडे, 23. पर्वत-मालाओं के, 24. प्रचंडता, 25. पत्थर और ईंट, 26. जागे हुए, 27. निर्माण या सृष्टि के, 28. पूर्ति का, 29. भीख की, 30. प्रतीक्षा कर रही हैं, 31. कला, 32. वातावरण।

घरेलू हिंसा के खिलाफ कानून डर और धमकी के बल पर, नहीं बनते शान्ति के घर

अंजलि सिन्हा

अनिता रोजगार शुदा है, उसकी शादी हुए पांच साल बीत गये हैं। उसे तीन साल की एक बेटी भी है। लेकिन आये दिन पति की प्रताड़ना झेलना उसकी नियति बन गयी है।

रीता का प्रेमविवाह है। उसके मां बाप को भले ही यह बात पसन्द न रही हो, लेकिन अब उन्होंने अपने आप को मना लिया है। लेकिन चाह कर भी रीता अपने उस पीड़ा को उन्हें नहीं बता सकती। उसका बेरोजगार पति कभी कभार उसे मारता भी है।

26 अक्टूबर से देश भर में लागू घरेलू हिंसा संरक्षण अधिनियम के अन्तर्गत अनिता या रीता जैसी अपने परिवार के अन्दर हिंसा का शिकार स्त्रियां अब कुछ बोल सकेंगी और तमिलनाडु के तिरुनेलवल्ली जिले की बेनेडिक्ट मैरी की तरह अपने पति की प्रताड़ना के खिलाफ गुहार लगा सकेंगी, जो इस कानून के अन्तर्गत मामला दर्ज करने वाली पहली महिला बनी है।

महत्वपूर्ण है कि महिला एवं बाल विकास मंत्रालय ने सभी राज्य सरकारों से इसे लागू करने के लिए आवश्यक प्रशासनिक व्यवस्था सुनिश्चित करने का आग्रह किया है। जानने योग्य है कि अगस्त 2005 में ही घरेलू हिंसा बिल संसद ने पारित कर दिया था तथा 13 सितम्बर 2005 को राष्ट्रपति की संस्तुति के बाद इसे कानून का दर्जा मिल गया था।

इसके तहत सरकार के ऊपर यह जिम्मेदारी डाली गयी है कि वह हर जिले तथा वार्ड में संरक्षण अधिकारी नियुक्त करे। इस स्थिति में औरतों को मिलने वाली सुविधाओं की जानकारी मुहैया कराना संरक्षण अधिकारी की जिम्मेदारी है। और यदि सुरक्षा आदेशों का उल्लंघन किया जाता है तो इस पर कार्रवाई हो सकती है। हिंसा की शिकार औरत कोर्ट द्वारा 'संरक्षण आदेश' ले सकती है। कोर्ट हिंसक पति/पार्टनर को अलग रहने का आदेश दे सकता है, लेकिन औरत को अपने वैवाहिक घर में रहने का अधिकार है। ससुराल के घर को साझा घर (shared household) के तौर पर सम्बोधित किया गया है।

जैसा कि शुरुआती प्रतिक्रियाओं से साफ है स्त्री अधिकारों के लिए कार्यरत सभी लोगों ने इसका स्वागत किया है। इसकी वजह यही है कि घरेलू हिंसा का मसला व्यापक है, लगभग 70 फीसदी महिलायें किसी न किसी किस्म की घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं, लेकिन अब तक इससे निपटने के लिए कोई विशिष्ट कानून नहीं रहा है।

**

एक कवि ने कहा है, "देश कागज पर बना नक्शा नहीं होता है।" उसी तर्ज पर कहा जा सकता है कि परिवार भी हर हाल में सदस्यों को जोड़े रखने का नाम नहीं है।

किन मजबूत आधारों पर हमारा परिवार खड़ा होता है ? दरअसल इसी बहस को घरेलू हिंसा विरोधी अधिनियम ने फिर एक बार उठाया है।

घरेलू हिंसा से तात्पर्य घर के अन्दर होने वाले हिंसा से है जिसकी शिकार हमारे पितृ सत्तात्मक समाज में औरतें होती हैं। आम तौर पर घरेलू हिंसा का तात्पर्य ससुराल में औरत पर होने वाले हिंसा से लगाया जाता है। इसके पहले के वे सारे कानून जो औरतों के सुरक्षा तथा न्याय के लिए बने थे वे सभी विवाहिताओं को ध्यान में रखकर बनाये गए थे। पहली बार यह कानून औरत को एक व्यक्ति होने के नाते चाहे वह ससुराल - मायका कहीं भी हो और रिश्ते में मां, बहन, पत्नी, पार्टनर कोई भी हो, अपने दायरे में लेता है।

परिवार के अन्दर जहां औरत के सम्मान को चोट पहुंचाना आम बात है गैरबराबरीपूर्ण रिश्तों का निर्वाह तथा शोषण, उत्पीड़न, परिवार में क्लेश को जन्म देता है। यदि कोई इससे निजात चाहे तो यह एक उपाय के रूप में मौजूद है। इस बिल को कानून का रूप धारण करते ही जिस प्रकार की आशंकाएं एवम् प्रतिक्रियाएं आ रही हैं उनकी थोड़ी विवेचना भी की जा सकती है।

1. क्या अब जब बराबरी से औरतें आगे बढ़ रही हैं तो इस प्रकार के कानून की आवश्यकता है ?
2. इस कानून का भी दहेज विरोधी कानून की तरह दुरुपयोग होगा।
3. नौजवान पीढ़ी शादी से घबरायेगी।
4. जब पहले से ही इतने कानून मौजूद हैं तो उन्हें ही उपयोग क्यों न करें ?
5. परिवार तबाह होगा, टूट-फूट बढ़ेगी।

तथ्य और आंकड़े क्या बताते हैं ? इसी साल जनवरी से अक्टूबर तक राष्ट्रीय महिला आयोग के पास जो शिकायतें आयीं वे इस प्रकार हैं :

पति द्वारा दूसरी शादी करना	118 मामले
दहेज हत्या के	394 मामले
दहेज प्रताड़ना के	2623 मामले
हत्या	213 मामले
विधवा प्रताड़ना	77 मामले

इसी प्रकार राज्यों के आंकड़ें, जो राज्यों तक ही रहे, वे अलग हैं। नेशनल क्राइम रेकॉर्ड ब्यूरो हर साल जो आंकड़े पेश करता है वह भी सभी के सामने है जबकि सभी को यह भी पता है कि आंकड़ों में तो वही मामले दर्ज होते हैं जो कोर्ट/कचहरी तक पहुंचते हैं। अधिकतर मामले कानूनी पचड़ों के कारण वहां तक पहुंचते ही नहीं या पहुंचने नहीं दिये जाते। यह बताया जाता है कि हर तीसरी

महिला किसी न किसी प्रकार के हिंसा की शिकार है चाहे शारीरिक, मानसिक, आर्थिक या यौनिक हिंसा हो।

किस अर्थ में यह कानून अलग है ?

इस नए कानून में परिवार की सभी महिलाओं को शामिल किया गया है।

इसके पहले बनाये गए सभी कानून विवाहिताओं को ध्यान में रखकर बनाये गये तथा दोषी के रूप में सिर्फ ससुराल वालों को रखा गया था।

यह सुरक्षित आवास की गारन्टी करता है तथा साझा घर की अवधारणा पर आधारित है। हमारे देश में यह अपराध काफी होता है जिसमें घर से निकाल देना या निकाले जाने की धमकी देना शामिल है। एक तरफ जहां मायके वाले यह सोचते थे कि लड़की बिदा करने के बाद मायके में उसका कुछ नहीं है वहां पिता की सम्पत्ति में बेटी को बराबर के अधिकार (जो 2005 में ही कानून बना) ने इसे तोड़ा है, वहीं इस अधिनियम के तहत ससुराल का घर पति का ही नहीं अब उसका भी है।

जहां तक इस कानून की तुलना दहेज विरोधी कानून से की जाती है तथा उसमें दुरुपयोग की बात जोड़ दी जाती है, तो उसमें दो बातें समझने लायक हैं - एक तो किस कानून का दुरुपयोग नहीं होता है और क्या दुरुपयोग के कारण कानून तथा उसको बनानेवाली प्रणाली सभी को खत्म कर देना चाहिए ? विचारणीय मसला है कि जब-जब दलितों, औरतों के लिए कानून बनता है तभी आखिर दुरुपयोग की बात जोर से उठती है। पिछले साल जब सम्पत्ति का कानून बना जिसने बेटी को बराबर का हकदार बनाया तब भी परिवार में क्लेश बढ़ने की, परिवार टूटने की बात आयी। सवाल यह उठता है कि सम्पत्ति को लेकर क्या भाईयों के बीच झगड़े नहीं होते हैं ?

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि अन्य कोई कानून न होने के कारण झगड़े या तनाव के सभी मसलों को दहेज कानून के अन्तर्गत दर्ज कर लिया जाता था, जो बाद में गलत साबित होता था। फिर यह कहा गया कि कानून का दुरुपयोग किया गया। मैं खुद ऐसे तमाम मामलों को व्यक्तिगत तौर पर जानती हूँ, जहां मामला पति द्वारा की जा रही शारीरिक प्रताड़ना का मामला मुख्य था, लेकिन पुलिस ने खुद सलाह दी कि दहेज की धारा में केस दर्ज करो।

नौजवान पीढ़ी यदि इस कानून से परेशान हो रही है (या बस माहौल ऐसा बनाया जा रहा है) तो उसे समझना होगा कि जोर-जबरदस्ती से परिवार चलाने का समय अब लद गया, उसे चलना नहीं ही चाहिए। जहां तक परिवार टूटने की बात है तो परिवार बेवजह टूट नहीं जाते हैं। यदि आधार सही होगा, सभी की समान हैसियत होगी तो वह मजबूत होगा, तथा उसे बचाये रखने के प्रयास सभी सदस्य करेंगे। यदि परिवार में हिंसा खत्म करने का एक उपाय कानून है तो इससे परिवार उल्टे मजबूत होंगे।

यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि शिकायत पीड़िता के अलावा कोई भी दर्ज करा सकता है, जो कि दहेज विरोधी कानून में नहीं था।

अनुभव में यह देखा गया है कि हर मुकदमा न्यायालय में लटका रहता है। इसके मद्देनजर मामले को निपटाने के लिए तीन महीने की अवधि तय की गयी है।

यह कानून सरकार पर जिम्मेदारी डालता है कि वह हर जिले तथा वार्ड में मजिस्ट्रेट तथा संरक्षण अधिकारी नियुक्त करें। प्रचार करना, जानकारी देना भी उसकी जिम्मेदारी है।

संघर्ष के चलते ही मिला है यह हक

सत्तर के दशक से ही नारी आन्दोलन में घरेलू हिंसा एक केन्द्रीय मुद्दा रहा है। शुरुआती दौर में संगठनों ने बैनर, पोस्टर, नारे, गीत तथा नाटकों के माध्यम से इस मुद्दे पर जागृति फैलाने का काम किया। धरने प्रदर्शन से लोगों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया। बाद में कानूनी प्रावधानों की कमी पर भी तथा उचित कानून के निर्माण की मांग को आन्दोलन ने अपना मुद्दा बनाया।

परिणामतः 1980 में दहेज सम्बन्धी कानून में सुधार हुआ तथा इसमें 498 (ए) और 304 (बी) जोड़ा गया जिसका उद्देश्य पति के परिवार से सम्बन्धित दहेज के अलावा अन्य हिंसा के मामले को देखना था। 1983 में बलात्कार विरोधी कानून में भी संशोधन हुआ। इसे नैतिकता के दायरे से बाहर लाकर हिंसा माना गया तथा स्त्री की स्वीकृति के बिना यौन सम्बन्ध को बलात्कार माना गया।

1991 में लायर्स कलेक्टिव नाम की संस्था ने एक मॉडल विधेयक तैयार किया और इसे ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय महिला आयोग ने 1994 में एक और विधेयक तैयार कर कार्रवाई के लिए सरकार के पास भेज दिया। इन दोनों विधेयकों में पहली बार हिंसा को रोकने के लिये आपराधिक कानून के साथ नागरिक उपायों पर भी जोर दिया गया। हिंसा की परिभाषा को व्यापक बनाया गया तथा चार नए रूपों को इसमें शामिल किया गया - 498(ए) के तहत निर्दयता के आधार के अलावा 1. ऐसा उत्पीड़न जिससे मानसिक क्लेश हो 2. औरत की मर्जी के खिलाफ पति या अन्य किसी रिश्तेदार द्वारा सम्भोग की कोशिश 3. कोई ऐसा दबाव जो औरत के सम्मान के विरुद्ध हो तथा 4. वे व्यवहार जो मानसिक यंत्रणा दें।

आशंकाएँ

एक बड़ी समस्या यह है कि कानून से ही सबकुछ की अपेक्षा की जाने लगती है। कानून मनुष्य का दृष्टिकोण नहीं बदल सकता, वह जरूरतमन्दों को न्याय तथा अधिकार दिलाने का एक प्रयास हो सकता है।

शिकायत दर्ज कराना कितना आसान होगा यह प्रश्नों के घेरे में है। यूँ तो किसी भी मामले में एफ.आई.आर./प्रथम सूचना रपट दर्ज कराना हर नागरिक का अधिकार है किन्तु हम सभी जानते हैं कि वह कितना मुश्किल होता है।

शेष पृष्ठ 11 पर.....

आतंक, आतंकवादी, आतंकवाद

लाल बहादुर वर्मा

आतंक से आतंकवाद तक की यात्रा लम्बी है। आतंक तो मनुष्य की मनीषा में रचा बसा है। आदिकाल से वह आतंकित होता रहा है और आतंकित करता रहा है। सबसे पहले वह प्रकृति से ही आतंकित हुआ होगा और तब से आतंक मानव की प्रकृति में बस गया। आतंकित होकर ही उसने ईश्वर और धर्म की रचना की और कदम बढ़ाया था। उसने आतंकित करने के परिणाम समझ लिए और जो भी संस्था विकसित की उसमें आतंक एक उपकरण के रूप में निहित रहा। कबीले में मुखिया का आतंक, घर में पितृसत्ता का आतंक। राज्य बना तो वह भी अपनी सार्वभौमिकता का इस्तेमाल केवल नियम-कानून से नहीं कर सकता था उसे लागू करने के लिए पुलिस-फौज यानी सर्वशक्तिमानता का आतंक।

आतंक के ये रूप मनुष्य, समुदाय और राज्य में रचे बसे हैं और किसी भी आदर्श समाज या यूटोपिया में, राम राज्य हो या साम्यवाद मिट जाने चाहिए। इसलिए कि जब तक व्यवस्था ऐसी नहीं बन जाती कि आतंक की जरूरत न रह जाए, आतंक कारगर न रह जाए, तब तक यह आशा करना निरर्थक होगा कि उसका व्यक्ति की मानसिकता से ही आधार समाप्त हो जाए।

बहरहाल हम उस आतंकवाद की बात करें जिसके आतंक से दुनिया का सबसे शक्तिशाली व्यक्ति और देश भी आतंकित है। यह तो निर्विवाद है अमरीकी शासकों ने आतंक को अमरीकी जीवन के एजेंडे पर पहला आइटम बना दिया है। इस आतंक पर बाकायदा चर्चा फ्रांस की क्रांति के दौरान शुरू हुई।

हुआ यह कि 1789 में फ्रांस में सामंती सत्ता के अंत के लिए फ्रांस की बूर्जुआजी (पूंजीपति वर्ग-उच्च मध्यवर्ग) ने क्रांति का नेतृत्व किया और सत्ता का उपयोग पूंजीवादी हितों को आगे बढ़ाने के लिए शुरू किया। उन्होंने स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के ऐतिहासिक सिद्धांत प्रतिपादित किए। कोई भी वर्ग-समुदाय समरूप नहीं होता, उसमें कई तरह के स्तर और श्रेणियां होती हैं जिनके अपने हित होते हैं। फ्रांस में बूर्जुआजी दो दलों में बंट गई जिरोदिस्त और जैकोबै, जैकोबै अधिक रैडिकल थे। पर उनके रैडिकलिज्म में भी कई स्तर थे। दसियों बेहद समर्पित क्रांतिकारी नेताओं का प्रादुर्भाव हुआ जो क्रांति को समर्पित थे और प्रतिक्रांतिकारी शक्तियों के षडयंत्र से आतंकित थे। देश से भागे सामंत और पादरी फ्रांस की सीमाओं के उस पार से लगातार क्रांतिविरोधी षडयंत्र कर रहे थे। राजपरिवार भी उनमें शामिल होता जा रहा था और राजा-रानी क्रांति के संविधान पर हस्ताक्षर करने के बाद रात को भाग चले। उन्हें सीमा के थोड़ा पहले ही पकड़ लिया गया - राज्य का प्रमुख, राज्य छोड़कर भागते हुए पड़का गया था। पड़ोसी देशों ने राजपरिवार को बचाने के लिए धमकी दी और सीमाओं पर आक्रामक गतिविधि शुरू कर दी।

इस समय क्रांति खतरे में पड़ गई थी अंदर और बाहर से। उस समय जैकोबिनवाद का उद्विकास हुआ। क्रांतिपूर्व के क्रांतिकारी विचारक रूसो ने यह प्रतिपादित कर सामंती जकड़ से हांक रहे फ्रांस में बिजली सी दौड़ा दी थी कि मनुष्य प्रकृत्या स्वतंत्र है पर हर कहीं जंजीरों में जकड़ा है (यानी जंजीरें तोड़ी जानी चाहिए) और सार्वभौमिकता

का स्रोत जन है। जैकोबै नेता रोब्सपिएर रूसो को खुदा, उसकी किताब सोशल कॉन्ट्रैक्ट को बाइबिल और अपने को पैगम्बर समझता था। इसलिए उसने क्रांति की रक्षा के लिए आतंक को आवश्यक करार दिया और उसकी बाकायदा एक थीसिस प्रतिपादित कर दी और कुछ महीनों के लिए फ्रांस, विशेषकर पेरिस में आतंक का राज्य स्थापित हो गया। 5 फरवरी 1794 को रोब्सपिएर ने एक भाषण में कहा 'सद्गुण जनतंत्र की आत्मा है..... या तो हम गणतंत्र के आंतरिक और बाह्य शत्रुओं का अंत कर दें या फिर उसके साथ ही अपने अंत के लिए तैयार रहें..... ऐसी स्थिति में हमारी नीतियों का पहला सिद्धांत होना चाहिए कि हम जनता का नेतृत्व विवेक से करें और जनता के शत्रुओं का आतंक से। अगर शांति के समय जनता की सरकार का स्रोत सद्गुण है तो क्रांति के समय वह एक ही साथ सद्गुण और आतंक है। **सद्गुण के बिना आतंक घातक है और आतंक के बिना सद्गुण शक्तिहीन। आतंक तुरंत, सख्त और अनमनीय न्याय के अतिरिक्त क्या है। इसलिए आतंक सद्गुण का ही उत्पाद है.....**

यह सच है कि आतंक पर सद्गुण का अंकुश कारगर नहीं हुआ क्योंकि जैसे सद्गुण की एक गतिकी है वैसे ही आतंक की भी। सद्गुण प्रकृत्या मद्धम और मंथर होता है जबकि आतंक तत्काल और विस्फोटक। इसलिए आतंक निरंकुश हो जाता है और हुआ और क्रांतिकाल की सबसे प्रबुद्ध नेत्री मादाम रोला को सूली पर चढ़ते हुए कहना पड़ा '**स्वतंत्रता ! तुम्हारे नाम पर कितने अपराध होते हैं !**' फ्रांस का 'क्रैम द लॉ क्रैम' अर्थात् सर्वोत्तम आतंक की बलि चढ़ गया और प्रतिभा का जो वैकुअम पैदा हुआ उसके कारण क्रांति का झंडा उठाए नेपोलियन आसानी से क्रांतिहंता सम्राट बन बैठा।

इस तरह कह सकते हैं कि आतंक के पहले ही सैद्धांतिकरण के इतिहास का सारसंकलन यही निकला कि आतंक को उपकरण बनाना बाघ की सवारी करने जैसा है ? और वह सद्गुण के शत्रुओं के विरुद्ध कितना ही प्रभावी उपकरण हो पर एक दोधारी तलवार की तरह मारने वाले को भी मारता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में दलित राष्ट्रों, राष्ट्रीयताओं ने अपनी अस्मिता की तलाश शुरू की तो आयरलैंड और मेसीडोनिया जैसे क्षेत्रों में राष्ट्रवादियों ने आतंकवाद को भी एक उपकरण बनाया।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक सारी दुनिया के उपनिवेशों में राष्ट्रवाद की लहर पहुंच चुकी थी और ज्यादातर देशों में, भारत में भी, औपनिवेशिक दासता और अपमान के विरुद्ध राष्ट्रवाद की एक छोटी धारा ने आतंकवाद का सहारा लिया।

भारत में चापेकर बंधु से भगत सिंह तक भारतीय युवा में पराधीनता के अपमान से मुक्ति पाने के लिए हथियार उठाने का सिलसिला चलता रहा। उन्हें ब्रिटिश सरकार ही नहीं अपने को भारतीय राष्ट्र का सबसे बड़ा प्रतिनिधि करार देने वाली कांग्रेस भी गलत करार देती रही। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें आतंकवादी करार दिया और उनके विरुद्ध कानून बनाते रहे, स्वयं उन्हें तोड़ते भी रहे और उनका ऐसा दमन उत्पीड़न किया जैसा अपराधियों का भी नहीं करते थे। पर सामान्य जनता उन्हें क्रांतिकारी मानती रही और उन तथाकथित आतंकवादियों के विरुद्ध सरकारी आतंकवाद से आतंकित होने के बावजूद उनसे प्यार करती रही। पर यह रास्ता तब तक चौड़ा नहीं हुआ जब तक उसे विचारधारात्मक आधार और संगठन नहीं मिला। किसान भी संगठित हुए और हथियार भी उठा लिया तो तेलंगाना और तेआगा के आंदोलनों में व्यापक समर्थन वाली कार्यवाइयों को भी आतंकवादी करार दिया जाता रहा। जो रवैया ब्रिटिश सरकार का था वही उसकी उत्तराधिकारिणी सरकारों का भी रहा है, सरकार चाहे जिस पार्टी की रही हो।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ही नागरिक और सैनिक के बीच का अंतर टूटने लगा था और नागरिक ठिकानों पर भी बमबारी की जाने लगी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान तो युद्ध निर्बन्ध हो गया। बम कहीं भी गिराए जा सकते थे। भारत में 1942 के आंदोलन के दौरान हवाई जहाजों का भी इस्तेमाल किया गया। इसका चरमोत्कर्ष था हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराया जाना।

धारणा और परिभाषा यह रही है कि आतंकवाद उन थोड़े से लोगों का हथियार होता है जो राज्य की शक्ति का वैसे मुकाबला नहीं कर सकते। पर उपनिवेशवाद विरोध के विरुद्ध राज्यों ने यह साबित कर दिया कि अपनी सर्वशक्तिमानता के साथ 'राज्य' से बड़ी आतंकवादी संस्था और कोई नहीं है।

राज्य तो प्रकृत्या एक उत्पीड़क संस्था है इसलिए जन्म से ही आतंक को कारगर उपकरण के रूप में इस्तेमाल करती रही है पर ज्यों-ज्यों देशी-विदेशी अन्याय के विरुद्ध प्रतिकार के रूप में राष्ट्रवादी और ऐथनिक शक्तियां छापामार लड़ाई को भी कारगर हथियार बनाती गईं, राज्य भी अधिकाधिक हिंसक होते गए। विदेशी राज में एक जलियांवाला बाग हुआ था देशी राज्य में तो न जाने कितने हुए होंगे। राज्य एक आतंकवादी संस्था है इसमें जिसे विश्वास करना मुश्किल रहा हो उसे भी बीसवीं शताब्दी के दो सफलतम माडलों ने अंतिम रूप से प्रमाणित कर दिया। स्वतंत्रता को सर्वोच्च आदर्श साबित करती तथाकथित समाजवादी सरकारों ने साबित किया कि 'एनिमल फार्म' दोनों ही जगह है। सोलजिनितसीन का 'गुलग' सोवियत यूनियन ही नहीं अमरीका में भी रहा है।

इस पृष्ठभूमि में आज के आतंकवाद को समझने की कोशिश

करें। फिलिस्तीनी क्षेत्र में इजरायल का आरोपण आतंकवादी तरीके से ही हुआ था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही नए प्रकार के उपनिवेशवाद के माध्यम से तुर्की से उसके उपनिवेश छीनकर लीग आफ नेशन्स के तत्वावधान में एक मैन्डेट सिस्टम लागू करके फिलिस्तीन को ब्रिटेन और लेबनान तथा सीरिया को फ्रांस के सुपर्द कर दिया गया था कि वे इन्हें सार्वभौम राज्य बनने के लिए विकसित करें। इंग्लैंड की सरकार ने फिलिस्तीन विकसित किया इतिहास के सबसे बदनीयत विभाजन के लिए। सारी दुनिया के रईस यहूदियों को आने दिया गया, गरीब अरबों की जमीन को खरीदने और हड़पने दिया गया, आतंकवादी संगठन बनाने दिया गया और अंततः दूसरे विश्वयुद्ध के बाद हिटलर द्वारा साठ लाख यहूदियों को मौत के घाट उतार देने के बाद (होलोकास्ट) पैदा हुई सहानुभूति के माहौल में यहूदियों को एकतरफा आजादी की घोषणा करने दिया गया।

दुनिया की सबसे अधिक सताई गई कौम के दुनिया की सबसे सताने वाली कौम बनने में ही आज के आतंकवाद को समझने की कुंजी है।

इजरायल की विडंबना यह है कि दुनिया के सबसे अधिक हर तरह से सम्पन्न यहूदियों ने एक नस्ल और धर्म-केंद्रित राज्य का गठन किया और तत्काल दूसरी नस्ल और धर्म के अरब अवांछित हो गए। फिर शुरू हुआ विस्थापन। ज्यों-ज्यों इजरायल अपनी सीमाएं बढ़ाता गया विस्थापित बढ़ते गए। अरबों की पूरी की पूरी पीढ़ी कैम्पों में बेहद अमानवीय स्थितियों में जवान हुई और शोला बन गई। संवेदना और आक्रोश का अद्भुत समन्वय फिलिस्तीनी कविता में फूटा जो दुनिया भर के प्रबुद्ध और क्रांतिकारी लोगों के जुबान और दिमागों में रच-बस गई। पर प्रतिहिंसा शहरों तक सीमित नहीं रही। फिलिस्तीनियों ने पी. एल. ओ. गठित कर लिया और अमरीका समर्थित घोषित शक्तिशाली इजरायल के विरुद्ध शुरू हुई सामरिक रूप से शक्तिहीन फिलिस्तीनियों की प्रतीकात्मक आतंकवादी कार्यवाइयां। राजनीतिक उद्देश्य से पहली बार हवाई जहाज हाइजैक हुआ और एक शीत युद्ध का अखाड़ा बन गया मध्यपूर्व। फिलिस्तीनियों को सोवियत गुट और गुट निरपेक्ष आंदोलन के देशों का समर्थन मिला और अराफात दुनिया के सबसे लोकप्रिय नेताओं में से एक हो गए। पर यह समर्थन अधिकांशतः नैतिक और एक हद तक वित्तीय था। दूसरी ओर इजरायल को अमरीका अपनी मुख्य मोहरा बना चुका था। अमरीकी अर्थव्यवस्था पर यहूदियों की अनमनीय जकड़ के कारण इजरायल को अकूत सहायता मिलती रही है।

सोवियत यूनियन को 'शैतान' करार देकर 1917 की क्रांति के बाद से अमरीकी सरकार उसके विनाश के लिए हर हथकंडा अपनाती रही। यहां तक कि महाविनाश के शस्त्रों (वीपन्स ऑफ मास डिस्ट्रक्शन) यानी ए बी सी हथियार एटॉमिक, बायलॉजिकल और रासायनिक हथियारों का दुनिया का सबसे बड़ा जखीरा तैयार कर अंतरिक्ष युद्ध की योजना बना डाली। सोवियत यूनियन का लक्ष्य-च्युत लालची और थोड़ा मूर्ख नेतृत्व प्रपंच में फंसकर आत्मघात

कर बैठा। पर अब अमरीका के लिए जरूरी था एक-दूसरे शैतान को स्थापित करना जिसके विरुद्ध युद्ध के नाम पर अमरीकी जनता को चूसने का बहाना बना रहे और वह अमरीकी 'एस्टैब्लिशमेंट' की अनैतिक और अमानवीय नीतियों को भी समर्थन देती रहे। ऐसा कोई मूर्त शत्रु दिख नहीं रहा था। चीन पूंजीवादी राह पर चल पड़ा था और अमरीका का 'मोस्ट फेवर्ड नेशन' और अनन्य व्यवसायिक पार्टनर बनता जा रहा था। यूरोपियन यूनियन तो प्रतिद्वंद्विता के बावजूद हर तरह से हमसफर ही था। अंतर्विरोध का कोई विचारात्मक आधार मिल नहीं रहा था। तब उस उपक्रम ने, जिसे अमरीका के उदारवादी विश्वविख्यात अर्थशास्त्री गालब्रेथ ने 'युद्ध-उद्योग' कहा था, एक दूसरा शत्रु गढ़ना शुरू किया जिसे उनके बौद्धिक प्रवक्ता हॉटिंगटन ने 'सभ्यताओं की टकराहट' (क्लैश ऑफ सिविलाइजेशंस) नाम दिया। पर यह तो अमूर्त अवधारणात्मक स्थापना थी। पहले समाजवाद से संघर्ष को मूर्त रूप देने के लिए सोवियत यूनियन फिर चीन और क्यूबा आदि को लक्ष्य बनाया गया था अब इस्लाम से तो लड़ना संभव नहीं था। उसे मूर्त रूप देना अनिवार्य था।

शत्रु उपलब्ध नहीं था तो मित्र को तो शत्रु बनाया जा सकता था। और इसलिए पुराने मित्रों ओसामा बिन लादने और सद्दाम हुसैन पर शत्रुता आरोपित कर उनके विरुद्ध अमरीकी जनता को लामबंद किया जा सकता था। अमरीका ने अमूर्तशत्रु का प्रतीक बना अफगानिस्तान और इराक पर विध्वंसक आक्रमण किया तो उत्पीड़ित और अपमानित जेहादी मूर्त प्रतीक अमरीकी सरकार से सीधा युद्ध तो नहीं लड़ सकते थे, तो अमरीका की सामरिक और वित्तीय शक्ति के प्रतीक वर्ल्ड ट्रेड सेंटर को बर्बर तरीके से ध्वस्त कर दिया। मानो बिल्ली के भाग से छींका टूटा। **अमरीकी व्यवस्था के लिए युद्ध एक उद्योग है इसलिए युद्ध तो करते ही जाना है। अब एक अनंत युद्ध का सूत्रपात हो सकता था और घोषणा हो गई आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध।**

इस युद्ध को न्यायोचित और अनिवार्य साबित कर राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर धिनौने धंधे की हकीकत जानने के लिए मारसेल मूर की अप्रतिमा डाक्युमेंटरी 9/11 फारनहाइट जरूर देखी जानी चाहिए। उसके प्रदर्शन को रोकने के लाख प्रयासों के बावजूद उसके सीडी सारी दुनिया में उपलब्ध हैं उसे देखकर देशभक्ति के देशी-विदेशी व्यापारियों से नफरत होने लगना स्वाभाविक है।

इस तरह आतंकवादी और आतंकवाद दोनों 'ग्लैमर' के शिकार हो चुके हैं। आतंकवादी बनने का आकर्षण बढ़ रहा है जैसे किसी

जमाने में क्रूसेडर बनने की ललक रही होगी। विचारधारा से लैस स्वतंत्रता/स्वायत्तता के लिए मुक्ति-संघर्ष के रूप में लड़े जा रहे आतंकवादी युद्धों का जनाधार है, उनके लक्ष्य निश्चित हैं और शत्रु भी। ऐसा आतंकवादी युद्धकाल स्वतंत्रता संग्राम भी प्रमाणित हो सकता है जैसा नेपाल में हो रहा है युद्ध लातिन अमरीका में हो, फिलीपीन्स में हो या हिंदुस्तान में।

अंत में कुछ बातों पर विशेष ध्यान देकर ही हम पूरी स्थिति का परिप्रेक्ष्य तैयार कर सकते हैं :

अभी तक जिसे आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध कहा जा रहा है वह मुख्यतः आतंकवादियों के विरुद्ध युद्ध है क्योंकि

1. आतंक, आतंकवादी और आतंकवाद में हमें अंतर करना पड़ेगा।

2. आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध उसी तरह का होगा जैसे गरीबी के विरुद्ध युद्ध। तरह-तरह के चोंचले और पाखंड करके देखा जा चुका है गरीबी मिट ही नहीं सकती जब तक आदमी द्वारा आदमी का शोषण जारी है, उसी तरह आतंकवाद, खासतौर पर उसके आज के चरित्र के बाद, जबकि थोड़े से लोग दुनिया के और इतिहास के सबसे शक्तिशाली राज्य को आतंकित कर सकते हैं। आतंकवाद को इसी व्यवस्था में मिटा पाना असंभव है। **जैसा कि पैट बुकानन ने कहा है जब तक किसी तरह का भी साम्राज्य है, यानी शोषण उत्पीड़न है, उसकी कीमत आतंकवाद से चुकानी पड़ेगी।**

3. रूसी क्रांति के बाद सारी प्रतिक्रियावादी शक्तियां एक हो गई थीं और उन्हें सारी दुनिया के पूंजीवादी साम्राज्यवादी देश, जिनके अगुवा थे अमरीका और ब्रिटेन, जैसे आज हैं, मदद पहुंचा कर के 'श्वेत' आतंक पैदा कर क्रांति को कुचल देने का अंतर्राष्ट्रीय षडयंत्र चला रहे थे। तो उसे टक्कर देने के लिए 'लाल आतंक' का सहारा लेना पड़ा था क्रांति की रक्षा करने के लिए। यानी प्रतिकारी आतंकवाद का एक औचित्य बना रहेगा जब तक समाज में मानव विरोधी व्यवस्थाएं शक्तिशाली बनी रहेंगी। और

4. अंततः आतंकवाद एक निराशात्मक और नकारात्मक प्रतिकार है इसलिए उसे सिद्धांततः स्वीकार और स्थापित किया नहीं जा सकता। उसकी अर्थवत्ता टैक्टिक्स और स्ट्रेटजी के रूप में ही है इसलिए उसे स्थायी उपकरण नहीं माना जा सकता और इस दुधारी तलवार का इस्तेमाल विकट स्थितियों में जानकार-समझदार और ईमानदार ही कर सकते हैं।

इतिहासबोध से साभार

साथियों,

हम उम्मीद करते हैं कि आई.एस.डी. का न्यूज़लैटर 'समरथ' आपको नियमित रूप से मिल रहा है। हम चाहते हैं कि आप 'समरथ' पर अपनी आलोचना, प्रतिक्रियाएं और सुझाव भेजें वो चाहे विषयों के चयन पर हो या फिर भाषा और शैली को लेकर। साथ ही ये भी बताएँ कि आप किन और विषयों को 'समरथ' में जोड़ना चाहेंगे। ये हमें 'समरथ' को और भी उपयोगी बनाने में मदद करेगा। हमें आपके ख़तों का इंतज़ार रहेगा। सधन्यवाद।

आई.एस.डी.

बहुल सूचकांक आधारित सकारात्मक हस्तक्षेप (एमआईआरएए)

प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल

भारत सरकार उच्च शिक्षा संस्थानों में “अन्य पिछड़ी जातियों” के लिए जाति के आधार पर आरक्षण की व्यवस्था करना चाहती है। प्रधानमंत्री ने भी सुझाव दिया है कि निजी क्षेत्र को ‘स्वैच्छिक रूप से आरक्षण’ लागू करना चाहिए। इस घटनाक्रम ने जाति आधारित आरक्षण के नफे-नुकसानों को लेकर एक बार फिर बहस छेड़ दी है। लेकिन दुर्भाग्यवश “सामाजिक न्याय” के हिमायतियों और “मैरिट” की वकालत करने वालों के बीच एक बार फिर विभाजक रेखा सी खिंच गई है। असली मुद्दे एक बार फिर पीछे चले गए हैं। ऐसे में इस मसले के तमाम आयामों का समग्रता में और तटस्थ भाव से जायजा लेना जरूरी हो गया है।

“मैरिट की कुर्बानी” को लेकर जो शोर मच रहा है उसका कोई औचित्य नहीं है। मैरिट या प्रतिभा भी एक सामाजिक निर्मिती होती है। ऐतिहासिक रूप से अन्यायपूर्ण और गैरबराबरी भरे परिवेश में इसको वस्तुपरक ढंग से नहीं आंका जा सकता। प्रतिस्पर्धापूर्ण मैरिट के मसले पर गंभीरता से केवल एक व्यापक समतापरक संदर्भ में ही बात की जा सकती है। लेकिन परेशानी यह है कि समतापरक व्यवस्था के निर्माण में भी जाति ही एकमात्र बाधा नहीं है। भला इसमें क्या शक है कि आर्थिक परिस्थितियों, शैक्षणिक अवसरों और लैंगिक भेदभावों के कारण भी अकसर व्यक्ति को अपनी मेधा व प्रतिभा के प्रदर्शन का सही मौका नहीं मिल पाता। मौजूदा बहस में एक पक्ष यह नहीं देखना चाहता कि मैरिट भी एक सामाजिक निर्मिती ही है तो दूसरा पक्ष यह मानने को तैयार नहीं है कि बेदखली के औजारों में जाति के अलावा और भी कई औजार हैं जिन पर इतना ही ध्यान दिया जाना चाहिए।

जाति आधारित आरक्षण का विचार सामाजिक न्याय की दृष्टि से सही दिखायी देता है। इसका मतलब है कि मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को बदलने के लिए सचेत रूप से इस तरह प्रयास किया जाए कि उसमें परंपरागत और संरचनागत रूप से हाशिए पर रहने वाले तबकों को भी अपनी संभावनाओं को साकार करने और उपलब्ध संसाधनों में अपना हिस्सा पाने के पर्याप्त मौके मिलें। किसी भी समाज में, खासतौर से भारत जैसे विवधतापूर्ण और जटिल समाजों में यह एक दुरुह कार्यभार है लिहाजा उसे राज्य नीति के स्तर तक सीमित कर देने का कोई औचित्य नहीं है। इसका मतलब है कि जाति आधारित आरक्षण की व्यवस्था के साथ-साथ ऐसी दूसरी नीतियों को भी लागू करना होगा जिनके जरिए सामाजिक हाशियाकरण को जन्म देने वाली संरचनाओं और पहुंच को निषिद्ध करने वाले कारकों को दूर किया जा सके। आरक्षण को सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने वाले साधन के रूप में देखा जाना चाहिए न कि अपने आप में एक लक्ष्य मान लिया जाए। इसको समय-समय पर उसी प्रकार जांचते-परखते भी रहना चाहिए जिस तरह किसी भी

दूसरी सामाजिक नीति और आर्थिक रणनीति को आंका जाता रहता है।

आरक्षण के मसले पर अत्यावश्यक सामाजिक पुनर्गठन के समग्र संदर्भ में विचार किया जाना चाहिए बजाय इसके कि इसे भी ‘पॉलीटिकल करेक्टनेस’ की मोर्चबंदी का अखाड़ा बना दिया जाए। इस बात को दोहराने की कोई खास जरूरत नहीं है कि जाति न केवल हमारे समाज की हकीकत बनी हुई है बल्कि यह उत्पीड़न का एक साधन भी है। लेकिन क्या हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि जाति ही उत्पीड़न का एकमात्र जरिया है ? क्या हम बेहिचक ये कह सकते हैं कि कथित उच्च जातियों में गरीबी की समस्या पूरी तरह खत्म हो चुकी है ? क्या हम कह सकते हैं कि पूर्वोत्तर, झारखंड और छत्तीसगढ़ के इलाके दिल्ली और मुंबई की चकाचौंध जिंदगी से मुकाबला करने लगे हैं ? क्या हम कह सकते हैं कि बिहार के किसी पंचायती स्कूल से पढ़कर आए विद्यार्थी और दून स्कूल में पढ़े विद्यार्थी के बीच बराबरी का मुकाबला होता है *भले ही वे दोनों एक ही जाति के क्यों न हों ?* मेरे एक विद्यार्थी ने एक बार बताया था कि उसे स्कूल जाने के लिए हर रोज एक नाले में तैर कर पार जाना पड़ता था। जाहिर है नाला किसी दलित और ब्राह्मण के बच्चों के बीच कोई फर्क नहीं करेगा। इत्तेफाकन, वह लड़का ब्राह्मण परिवार से ताल्लुक रखता है! क्या हम ये भी कह सकते हैं कि सामाजिक अवसरों के निषेध में जेंडर की कोई भूमिका नहीं होती ? आखिर यही तो समाज है जिसमें लड़कियों के साथ भेदभाव जन्म से भी पहले ही शुरू हो जाता है। अवसरों की बात तो दूर रही, अकसर उन्हें जन्म के अधिकार से भी वंचित कर दिया जाता है। ऐसा ही भेदभाव धर्म और जाति के आधार पर किया जाता है।

सवाल ये भी है कि क्या हम सामाजिक संबंधों और राजनीतिक प्रक्रियाओं को जाति के दुष्प्रभावों से मुक्त करना चाहते हैं या हम चाहते हैं कि जाति सदा ऐसे ही बनी रहे ? क्या यह सच नहीं है कि जाति को ही उत्पीड़न और शोषण का एकमात्र जरिया मान कर और फलस्वरूप सारे उपचारक प्रयासों को जाति पर ही केंद्रित करके हमने जाति को सामाजिक पहचानों के निर्धारण का सबसे बड़ा साधन बना दिया है ? हर व्यक्ति को अपने जन्म की जाति के प्रतीक की तरह देखा जाता है। इस बात को नजरअंदाज कर दिया जाता है कि हर व्यक्ति अनचाहे ही असंख्य पहचानें अपने भीतर समेटे चलता है। इसी वजह से शक्तिहीन तबकों के भीतर बैठे तुलनात्मक रूप से ताकतवर सदस्यों को जाति आधारित आरक्षण का फायदा उठाने का मौका भी मिल जाता है। जाति, जोकि व्यक्तिगत स्तर पर पहचान का सिर्फ एक पहलू है और सामाजिक एवं संरचनागत स्तर पर एक विकृत समाज व्यवस्था का प्रतिबिम्ब भर है, उसे हमने व्यक्ति की मूल पहचान का दर्जा दे दिया है। इस तरह

की परिस्थितियों से सिर्फ ऐसे राजनेताओं का ही उल्लू सीधा होता है जो सत्ता में पहुंचने के लिए कोई भी रास्ता अपनाने को तैयार रहते हैं। यह एक आधुनिक सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना के लिए तो हानिकारक है ही, उन लोगों के लिए भी हानिकारक है जिन्हें सामाजिक न्याय और सकारात्मक प्रयासों की जरूरत है।

मुझे लगता है कि जाति आधारित आरक्षण को ही सकारात्मक हस्तक्षेप के एकमात्र समाधान के रूप में पेश करके जनमत को गुमराह करने की कोशिश की जा रही है। सकारात्मक हस्तक्षेप का मकसद ये होना चाहिए कि मौजूदा अन्यायपूर्ण संरचनाओं और आचारों को दुरुस्त करने की सामाजिक आकांक्षा को “स्वीकार्य” बनाया जाए। सकारात्मक हस्तक्षेप के किसी भी प्रयास को इन सभी कारकों से जूझना होगा बजाय इसके कि किसी एक कारक को राजनीतिक “अति” के स्तर तक पहुंचा दिया जाए।

हमारे देश में जाति आधारित आरक्षण की वकालत करने वाले कुछ लोग इसे सकारात्मक हस्तक्षेप (Affirmative Action) के अमेरिकी मॉडल जैसा मानते हैं। लेकिन यह ऐसा मानना सही नहीं है। अमेरिका में प्रचलित सकारात्मक हस्तक्षेप की भावना हमारे देश में लागू की जा रही ठहराव भरी कोटा व्यवस्था के विपरीत पड़ती है। अमेरिकी व्यवस्था में ऐतिहासिक रूप से पिछड़ी पहचानों और समुदायों के लिए किसी पूर्वनिर्धारित कोटा की व्यवस्था नहीं है। मारकीता साइक्स ने अमेरिकी मॉडल को इस प्रकार परिभाषित किया है : “सकारात्मक हस्तक्षेप का आशय ऐसी सरकारी नीतियों और प्रयासों से है जिनके जरिए नस्ल, रंग, धर्म, लिंग या राष्ट्रीय मूल पर आधारित ऐतिहासिक और मौजूदा भेदभावों का उन्मूलन किया जा सकता है।” यह मॉडल ऐतिहासिक रूप से पिछड़े तबकों को अवसर मुहैया कराने पर केंद्रित है ताकि ऐसे तबकों को भी मुख्यधारा में समाहित किया जा सके। इस मॉडल के सहारे अमेरिका के व्यवसाय जगत और सार्वजनिक संस्थानों, दोनों में काफी सामाजिक विविधता प्रतिबिंबित होने लगी है। अमेरिकी मॉडल सिर्फ सामुदायिक पहचानों पर ध्यान नहीं देता बल्कि उसमें लिंग और आर्थिक कारकों पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है।

सकारात्मक हस्तक्षेप का ऐसा ही समोवशी मॉडल 1983 तक जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय की प्रवेश नीति में भी अपनाया जाता था। उस नीति के चलते विश्वविद्यालय में भारी सामाजिक विविधता भी दिखायी देती थी और सर्वोच्च बौद्धिक मानक भी अक्षुण्ण थे। बाद में प्रशासकीय सुगमता के नाम पर इस प्रणाली को समाप्त कर दिया गया और आसान व राजनीतिक रूप से आरामदेह दिखायी देने वाले जाति आधारित आरक्षण की व्यवस्था अपना ली गई।

यहां मैं सकारात्मक हस्तक्षेप का एक मॉडल सुझाना चाहता हूँ जिसे **बहुल सूचकांक आधारित सकारात्मक हस्तक्षेप** (एमआईआरए) कहा जा सकता है। जैसा कि नाम से ही इंगित है, यह मॉडल इस बात पर आधारित है कि जब भी किसी उम्मीदवार को दाखिला या नौकरी देने के बारे में विचार किया जाए तो उसकी उम्मीदवारी पर कई दृष्टिकोणों से विचार किया जाए। हमारे देश के विशिष्ट हालात को ध्यान में रखते हुए एमआईआरए निम्नलिखित

संकेतकों पर आधारित होगा :

1. जाति/समुदाय
2. लिंग
3. परिवार की आर्थिक स्थिति
4. किस तरह की शिक्षा मिली है
5. उम्मीदवार ने अपने प्रारंभिक वर्ष किस इलाके में बिताए हैं
6. क्या उम्मीदवार पहली पीढ़ी का/की प्रशिक्षु है, तथा परिवार में शिक्षा की स्थिति कैसी रही है।

आइए देखें कि यह व्यवस्था किस प्रकार काम करेगी। **सबसे पहली बात, इस व्यवस्था में पूर्वनिर्धारित कोटा का कोई प्रावधान नहीं होगा।** शिक्षा या रोजगार के क्षेत्र में उपलब्ध 100 प्रतिशत सीटों पर एमआईआरए को प्रभावी माना जाएगा। मान लीजिए कि किसी कॉलेज/संस्थान में प्रवेश के लिए 100 अंकों का एक पैमाना बनाया जाता है। अब इन 100 अंकों को प्रवेश परीक्षा, साक्षात्कार और संबंधित संस्थान की अपेक्षाओं के अनुसार उम्मीदवार के शैक्षणिक प्रदर्शन के बीच बांट दिया जाए। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सभी उम्मीदवारों को 100 अंको के इसी पैमाने के तहत प्रवेश परीक्षा, साक्षात्कार आदि के आधार पर आंका जाएगा। इसके बाद एमआईआरए को लागू किया जाएगा और कोई भी उम्मीदवार, चाहे किसी भी जाति का क्यों न हो, अलग-अलग सूचकांकों के कारण इससे फायदा पा सकता है। एमआईआरए के अंतर्गत किसी भी व्यक्ति को अधिकतम 30 और न्यूनतम 0 अंक मिल सकते हैं। **अब एमआईआरए के तहत मिले अंक उम्मीदवार को उपरोक्त प्रवेश प्रक्रिया में मिले अंकों में जोड़ दिये जाएंगे। इन दोनों श्रेणियों के अंको का योग ही उम्मीदवार के अंकों का कुल योग होगा।** अब संबंधित विषय या नौकरी के लिए निर्धारित कटऑफ से ज्यादा अंक पाने वाले उम्मीदवारों को प्रवेश दे दिया जाएगा।

यह पद्धति न केवल व्यक्ति की योग्यता पर आधारित है बल्कि सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की जरूरतों को भी पूरा करती है। कोटा/प्रतिशत व्यवस्था में सामाजिक न्याय की प्रणाली उपलब्ध सीटों के केवल एक निश्चित अनुपात पर ही केंद्रित होती है, जबकि प्रस्तावित व्यवस्था में सारी सीटें सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की परिधि में आ जाती है।

30 अंकों में से प्रत्येक सूचकांक के लिए इतने-इतने अंक निर्धारित होंगे :

1. **जाति/समुदाय सूचकांक :** अनुसूचित जाति/जनजाति के लिए 5 अंक, चाहे बाकी सूचकांकों पर उम्मीदवार की स्थिति कुछ भी हो। एमबीसी के लिए 4 अंक चाहे अन्य सूचकांकों पर उम्मीदवार की स्थिति कुछ भी क्यों न हो। ओबीसी के लिए 2 अंक (एमबीसी अंकों के अलावा), चाहे अन्य सूचकांकों पर उम्मीदवार की स्थिति कुछ भी हो।
2. **जेंडर :** महिला उम्मीदवारों के लिए 5 अंक, चाहे अन्य सूचकांकों पर उम्मीदवार की स्थिति कुछ भी हो।

3. परिवार की आर्थिक स्थिति (अधिकतम 6 अंक)

श्रेणी	टिप्पणी	अंक
श्रेणी ए	ऐसे परिवार जिनकी सालाना आय 2,50,001 रुपए के बराबर या उससे ज्यादा है।	0 अंक
श्रेणी बी	ऐसे परिवार जिनकी आय 1,00,001 रुपए से 2,50,001 रुपए के बीच है।	3 अंक
श्रेणी सी	ऐसे परिवार जिनकी आय सालाना 1,00,000 रुपए तक है।	5 अंक
श्रेणी डी	ऐसे परिवार जो केंद्र/राज्य सरकार की गरीबी उन्मूलन योजना/रोजगार योजना के लाभान्वित हैं या ऐसी योजनाओं के लाभान्वित हो सकते हैं।	6 अंक

4. उम्मीदवार ने किस इलाके में अपने प्रारंभिक वर्ष बिताए हैं (अधिकतम 5 अंक)।

श्रेणी	टिप्पणी	अंक
श्रेणी ए	महानगर और अन्य बड़े शहर।	0 अंक
श्रेणी बी	राज्यों की ऐसी राजधानियां जो श्रेणी ए के तहत नहीं आतीं।	1 अंक
श्रेणी सी	सभी शहर/कस्बे। इस श्रेणी में टकरावग्रस्त इलाकों के भी सभी शहर आएंगे।	3 अंक
श्रेणी डी	गांव/सामुदायिक टोले।	5 अंक

5. उम्मीदवार ने किस तरह की स्कूली शिक्षा प्राप्त की है (अधिकतम 5 अंक)

श्रेणी	टिप्पणी	अंक
श्रेणी ए	जाने-माने पब्लिक स्कूल, बोर्डिंग स्कूल, आवासीय स्कूल, कॉन्वेंट स्कूल। एनपीएससी एवं ऐसे ही अन्य निकायों के सदस्य स्कूल।	0 अंक
श्रेणी बी	केंद्रीय विद्यालय और नवोदय विद्यालय जैसे केंद्र सरकार के अंतर्गत चलने वाले स्कूल।	2 अंक
श्रेणी सी	क्षेत्रीय भाषा/हिंदी माध्यम के ऐसे स्कूल जो श्रेणी ए और श्रेणी बी के तहत नहीं आते।	3 अंक
श्रेणी डी	गांव/पंचायत/नगरपालिका के स्कूल।	5 अंक

नोट : यदि किसी उम्मीदवार ने श्रेणी ए स्कूल में पढ़ाई की है तो क्षेत्रीयता के पैमाने पर उसे कोई अंक नहीं दिया जाएगा। इसका मकसद ये है कि अगर किसी छोटे शहर का भी कोई बच्चा नामी बोर्डिंग/पब्लिक स्कूल में पढ़ा है तो उसे किसी प्रकार का अनुचित लाभ न मिले।

6. प्रथम पीढ़ी के विद्यार्थियों के लिए

श्रेणी	टिप्पणी	अंक
श्रेणी ए	आवेदक के माता-पिता, दोनों ही स्नातक या उससे अधिक शिक्षा प्राप्त हैं।	0 अंक
श्रेणी बी	आवेदक के माता-पिता, दोनों में से कोई एक स्नातक और दूसरा कम से कम दसवीं तक पढ़ा हो।	1 अंक
श्रेणी सी	माता-पिता में से कोई एक दसवीं से कम शिक्षा प्राप्त है।	3 अंक
श्रेणी डी	माता-पिता, दोनों ही दसवी तक भी नहीं पढ़े हैं।	4 अंक

नोट : शारीरिक रूप से विकलांग बच्चों, युद्ध विधवाओं और भूतपूर्व सैनिकों के बच्चों को वही लाभ जारी रखे जाएं जो उन्हें मौजूदा व्यवस्था के तहत प्राप्त हैं।

निम्नलिखित उदाहरणों से एमआईआरएए के कार्यविधान को समझने में मदद मिलेगी।

1. आइए कल्पना करते हैं कि झारखंड से आई रानी कुजुर किसी कॉलेज के प्रवेश मानकों पर खरी उतरती हैं। उनके कॉलेज में मानवशास्त्र विषयों के लिए 70 प्रतिशत कट-ऑफ रखी गई है।

अब, एमआईआरएए के विभिन्न सूचकांकों को लागू करने पर उन्हें 5 अंक मिलते हैं क्योंकि वह अनुसूचित जनजाति समुदाय से हैं।

उन्हें 5 अंक मिलते हैं क्योंकि वह महिला हैं।

उनका परिवार एनआरईजी योजना के लाभान्वितों में है इसलिए उन्हें आर्थिक सूचकांक के तहत 6 अंक मिलते हैं।

उन्हें 5 अंक मिलते हैं क्योंकि वह एक जनजातीय इलाके से आती हैं।

उन्हें 5 अंक इसलिए मिलेंगे क्योंकि उन्होंने पंचायती स्कूल में पढ़ाई की है।

उन्हें इस बात के लिए 4 अंक मिलेंगे क्योंकि वह अपने परिवार में शिक्षा पाने वाली पहली सदस्य हैं।

इस प्रकार रानी को एमआईआरएए के तहत 30 में से 30 अंक मिलते हैं। अब इन अंकों को उनके शैक्षणिक अंकों में जोड़ दिया जाएगा। मान लीजिए कि उनके शैक्षणिक प्रदर्शन (उनके पिछले अकादमिक प्रदर्शन और प्रवेश परीक्षा सहित) के आधार पर मिले अंकों का योग 42 है। अब एमआईआरएए और इन अंकों को जोड़ने पर उनके अंक 72/100 हो जाते हैं। यानी कटऑफ से ज्यादा। इस आधार पर उन्हें प्रवेश के योग्य माना जाएगा। *यहां ध्यान देने वाली बात यह है कि एमआईआरएए के चलते उन्हें संरचनागत सामाजिक एवं आर्थिक कमजोरियों के कारण रास्ते में आ रही बाधाओं से पार पाने में मदद मिली।*

2. अब इसके विपरीत एक और उदाहरण लेते हैं। उम्मीदवार का नाम है रमेश यादव। उसके पिता ईट भट्टा चलाने के साथ-साथ

राजनीति में भी सक्रिय हैं। उन्हें ओबीसी श्रेणी का होने के कारण 2 अंक मिलेंगे। उन्होंने अपना बचपन ए श्रेणी के शहर में बिताया है, वह पब्लिक स्कूल से पढ़कर आए हैं, और उनके माता-पिता, दोनों स्नातक हैं। फलस्वरूप, इन सभी मानकों पर उन्हें कोई अंक नहीं मिल सकता। लेकिन रमेश की बहन को 7 अंक मिलेंगे क्योंकि वह लड़की है। अगर रमेश के माता-पिता में से कोई एक दसवीं से कम पढ़े होते तो दोनों भाई-बहनों को 3-3 अंक और मिल जाते।

3. आइए एक और उदाहरण पर विचार करें। साधना के पिता मध्यम दर्जे की सरकारी नौकरी में हैं। उनका परिवार ओबीसी श्रेणी में आता है। उनकी मां पढ़ी-लिखी नहीं हैं। साधना ने एक छोटे कस्बे के केंद्रीय विद्यालय में पढ़ाई की है। एमआईआरएए पैमाने पर उनका प्रदर्शन कैसा रहेगा ? उन्हें 5 अंक जेंडर सूचकांक पर, 2 अंक ओबीसी होने के कारण, 3 अंक क्षेत्र विशेष से होने के कारण, 2 अंक स्कूल के लिए, और 3 अंक इसलिए मिलेंगे क्योंकि उनकी मां पढ़ना-लिखना नहीं जानती हैं। इस प्रकार साधना को एमआईआरएए के तहत कुल 15 अंक मिलेंगे। अगर उनके पिता अपने विभाग में और भी निचले पद पर होते तो उन्हें कम आयवर्ग से आने के कारण 3 या 5 अंक और मिल जाते।

इस प्रस्तावित मॉडल का आवेदक के धर्म से कोई संबंध नहीं है क्योंकि यह प्रस्ताव भारतीय समाज में सर्वव्यापी जाति व्यवस्था को तर्कसंगत ढंग से देखने की कोशिश का नतीजा है। इस प्रकार किसी भी धर्म के तहत आने वाले हाशियाई और शक्तिहीन तबकों के उम्मीदवारों को भी उचित लाभ मिलेंगे। मसलन, किदवई या रज़ा मुस्लिम उम्मीदवार को जाति सूचकांक पर कोई अंक नहीं मिलेगा लेकिन ओबीसी होने के नाते अंसारी या सलमानी मुस्लिम उम्मीदवार को कुछ अंक जरूर मिलेंगे। यही तर्क इसाइयों और अन्य धर्मों के व्यक्तियों पर भी लागू होगा।

मेरा आग्रह है कि पाठकगण एमआईआरएए के बारे में सोचें, उसको तोल-मोल कर देखें और अपनी प्रतिक्रिया दें।

पृष्ठ 4 का शेष.....

इतने विस्तृत कानून को लागू करने के लिए कोई केन्द्रीय बजट के बारे में अभी तक कुछ कहा नहीं गया है। इसे राज्य सरकारों के भरोसे छोड़ना ठीक नहीं होगा। गिरिजा व्यास ने एक जगह इस कानून के सन्दर्भ में कहा कि “महिलायें अब वस्तु नहीं हैं।” लेकिन इस उपभोक्तावादी समाज में महिलाएं उपयोग की वस्तु बनने से कैसे बच सकती हैं। पति नहीं करेगा तो भी बाजार करेगा ही। अर्थात् इस कानून की उपयोगिता जितनी है, जहां है उतना समझा जाना चाहिए और उसी रूप में यह कारगर है।

अन्त में

निश्चित ही इस सिविल कानून को अगर सफल बनाना है तो महिलाओं को आगे आकर उनके खिलाफ होने वाली किसी भी किस्म की घरेलू हिंसा के खिलाफ शिकायत करने के लिये तैयार होना होगा। लेकिन इस मामले में सरकार की जिम्मेदारी भी कम नहीं है, उसे न केवल इस कानून के व्यापक प्रचार-प्रसार की मुहिम चलानी होगी बल्कि अपनी मशीनरी को पोखता करना होगा ताकि

अगर कोई पीड़ित महिला अपनी शिकायत लेकर पहुंचे तो उस पर त्वरित कार्रवाई हो। सरकार को इसके लिए सुलभ तथा आसान मैकेनिज़्म विकसित करना होगा ताकि सभी पीड़ित महिलायें आसानी से इसका लाभ उठा सकें। न केवल पुलिसकर्मियों को स्त्री मुद्दों के प्रति सम्वेदनशील बनाना होगा बल्कि न्यायपालिका के बड़े हिस्से में जड़मूल पितृसत्तात्मक धारणाओं को भी ठीक करना होगा।

इस कानून का निर्माण इस मामले में उपलब्धि समझा जाएगा क्योंकि इसने पहली बार घरेलू हिंसा को अपराध की श्रेणी में शामिल कर आत्मीय सम्बन्धों में जारी हिंसा की व्यापकता को रेखांकित किया है। वैसे इसे महज शुरुआत ही समझा जा सकता है। अभी भी वह वैवाहिक सम्बन्धों में बलात्कार के प्रश्न पर पारम्परिक रुख अपनाता दिखता है। सन 2005 में पारित घरेलू हिंसा बिल भी वैवाहिक बलात्कार को अन्य हिंसा की श्रेणी में ही रखता है। इसके अनुसार एक औरत वैवाहिक बलात्कार के खिलाफ कोर्ट जा सकती है, इस आधार पर पति से अलग हो सकती है किन्तु पति को गिरफ्तार नहीं करवा सकती, न मुकद्दमा चलवा सकती है।

मालेगांव बम विस्फोट काण्ड आखिर उन 'दो साइकिलसवारों' का क्या हुआ ?

सुभाष गाताडे

क्या आप में से किसी को मोहम्मद अफरोज का चेहरा याद है, जिसे 9/11 के बाद मुम्बई पुलिस ने गिरफ्तार किया था। कितना हल्ला हुआ था कि हिन्दोस्तां में 'अल कायदा का पहला नुमाइन्दा' पकड़ा गया है। पुलिस द्वारा यही कहानी गढ़ी गयी थी कि यह 'खतरनाक आतंकवादी' अपने द्वारा चालित हवाई जहाज को ब्रिटिश हाऊस आफ कामन्स और आस्ट्रेलिया पर गिराना चाहता था। अपने इन आरोपों की जांच के लिए पुलिस की टीमें इन मुल्कों में भी भेजी गयी थीं। सभी जानते हैं कि किसी भी तरह के सबूतों के अभाव में ये टीमें खाली हाथ लौट आयी थीं। अन्त में यही बात साबित हुई कि समूचे आरोप गढ़े गये हैं। और मोहम्मद अफरोज को बाइज्जत रिहा किया गया था। मीडिया जिसने 'अल कायदा के पहले हिन्दोस्तानी एजेंट' के पकड़े जाने पर इस मामले को लगातार सूखियों में बनाये रखा था, उनमें से किसी ने यह जानने की कोशिश बाद में नहीं की कि इस मुल्क के एक होनहार युवा और उसकी परिवार की जिन्दगी के साथ इस किस्म का आपराधिक खिलवाड़ करने के लिये मुम्बई पुलिस के अधिकारियों पर कोई कार्रवाई भी हुई थी या नहीं। मीडिया के सामने नयी सनसनी मौजूद थी, इस मामले को भूला दिया गया।

साफ है अफरोज का मामला थोड़ा पुराना पड़ा है, लेकिन आपको उस गरीब, मासूम कश्मीरी फलबिक्रेता का चेहरा जरूर याद होगा, जिसे पिछले साल दिल्ली में हुई सीरियल बम काण्डों के सूत्रधार के तौर पर पेश किया गया था। उसे लाने के लिए दिल्ली पुलिस की स्पेशल टीमें कश्मीर गयी थीं। अपने इस 'प्राइज कैच' पर फूला नहीं समा रहे पुलिस अफसरानों ने ही कुछ ही दिन बाद उसे पूरी तरह निरपराध घोषित किया था। इस बात को दावे के साथ कहा जा सकता है कि मुल्क के एक सम्मानित नागरिक और उसके परिवार को भयानक मानसिक, शारीरिक यातनायें पहुंचाने के लिए एवम उसकी सामाजिक बदनामी करने के लिये 'कानून सुव्यवस्था' के किसी भी अलम्बरदार से किसी तरह की कोई सफाई तक नहीं मांगी गयी होगी।

वैसे सबसे ताज़ा मामला, जो पुलिस प्रणाली के अन्दर मौजूद पूर्वाग्रहों को बेपर्दा करता है, वह सूबा जम्मू-कश्मीर से सामने आया है। चार साल पहले जम्मू के रघुनाथ मन्दिर पर हुए आतंकी हमले के लिए कर्ताधर्ता माने जाते चार आरोपियों को उच्च अदालत ने बाइज्जत बरी किया है। रघुनाथ मन्दिर पर हुए आतंकी हमले को पूरे मुल्क ने अपने टेलीविजन के पर्दे पर 'सजीव' देखा था। बाद में पुलिस ने इस षडयंत्र का पता लगाने के लिए विशेष टीमें गठित की थीं और इन चारों को हमेशा की तरह मीडिया के सामने पेश किया था। मुमकिन है पुलिस की मार से बचने के लिए उन्होंने यह 'कबूला' भी हो कि वही सूत्रधार थे। लेकिन अदालत के सामने मुकदमा आते-आते ही पुलिस द्वारा खड़े किये गये 'झूठ' को बेपर्दा होने में समय नहीं लगा। उच्च अदालत ने न केवल पुलिस को

फटकार लगायी बल्कि उसे हिदायत दी कि भविष्य में अपने काम में वह सावधानी बरते।

निश्चित ही आज़ाद हिन्दोस्तां में जबकि यह सच्चाई नये सिरे से सामने आयी है कि किस तरह जेल ही एकमात्र जगह है, जहां मुसलमानों का अनुपात उनकी आबादी की तुलना में काफी ज्यादा है, (ऐसे आठ राज्य जहां उनकी औसत आबादी 14.82 फीसदी है, वहां जेल में डाले गये मुसलमानों की तादाद 23.4 फीसदी है - सच्चर कमेटी की रिपोर्ट) मोहम्मद अफरोज, वह गरीब कश्मीरी फल बिक्रेता या वे निरपराध चार कश्मीरी युवा जैसों से बनी यह फेहरिस्त अन्तहीन मालूम पड़ सकती है। और यह तस्वीरें तब आंखों के सामने जोरदार ढंग से नमूदार हो जाती है जब पुलिस के आला अफसर जोरदार ढंग से कोई ऐलान करते हैं और मीडिया के सामने बताते हैं कि किस तरह उन्होंने फलां फलां साज़िश को बेपर्दा किया है। यही वजह है कि सूबा महाराष्ट्र पुलिस से सम्बद्ध 'आतंकवाद विरोधी दस्ते/ एण्टी टेररिजम स्क्वाड' द्वारा मालेगांव बम विस्फोट काण्ड (8 सितम्बर 2006) की साजिश का पर्दाफाश करने का दावा करते हुए जो कहा जा रहा है, वह बात भी सन्देह से परे नहीं जान पड़ती।

शब-ए-बारात, एक ऐसा दिन जब मुस्लिम लोग अपने गुजर चुके आप्तजनों को याद करते हैं, उनकी कब्रों को साफ-सुथरा करते हैं और वहां नमाज अदा करते हैं। यह कहना मुश्किल है कि इस साल शब-ए-बारात के दिन महाराष्ट्र के मालेगांव में जुटे लोगों में कितने लोगों को इस बात का इलहाम रहा होगा कि वे अपनी आखरी नमाज अदा कर रहे हैं। इस मानवनिर्मित ट्रेजेडी से 31 लोगों की मौत हुई और सैकड़ों लोग घायल हुए। (आठ सितम्बर 2006)

महाराष्ट्र पुलिस के आतंकवाद विरोधी दस्ते (एण्टी टेररिस्ट स्क्वाड) की बात पर यकीन करें तो मालेगांव में हुए बम विस्फोटों की गुल्थी अब सुलझ गयी है। ख़बरों के मुताबिक अब तक सात लोग पुलिस द्वारा हिरासत में लिये गये हैं। पुलिस के मुताबिक यह किसी अतिवादी मुस्लिम संगठन की साजिश थी जिसका मकसद था साम्प्रदायिक दंगों को भड़का देना। पुलिस का यह भी कहना है कि 'विस्फोटों में इस्तेमाल किये गये बम अभियुक्त शब्बीर बैटरीवाला के गैरेज में एकत्रित किये गये थे।'

गौरतलब है कि इस अहम मसले में सामने आये 'सच' को उजागर करने के लिये बुलायी गयी प्रेस कॉन्फ्रेंस के दौरान महाराष्ट्र के डीजीपी ने न पाकिस्तानी गुप्तचर एजेंसी आई.एस.आई. का नाम लिया और न ही लश्कर का नाम लिया, जिन्हें अक्सर ऐसी घटनाओं का असली जिम्मेदार बताया जाता है। पुलिस के मुताबिक यह किसी अतिवादी मुस्लिम संगठन की साजिश थी जिसका मकसद था साम्प्रदायिक दंगों को भड़का देना।

निश्चित ही पुलिस अफसरानों द्वारा ऐसे सभी मामलों में जिस आत्मविश्वास के साथ मीडिया के सामने घटना का विवरण पेश किया जाता है, उससे किसी को यह गलतफहमी नहीं होनी चाहिये कि अभियुक्तों के खिलाफ उसके पास पोख्ता सबूत भी हों। और खासकर जहां तक इस बम काण्ड के लिए जिम्मेदार तत्वों को चिन्हित करने का सवाल है, अभी कुछ दिन पहले तक इस काण्ड में हिन्दुत्व ब्रिगेड से जुड़े आततायियों के शामिल होने की बात जोरों से थी।

दरअसल मालेगांव के बहाने पहली दफा हिन्दुत्व के आतंकवाद का मसला जोरदार तरीके से बहस के केन्द्र में आया था। जो बात विभिन्न जनपक्षीय समूहों द्वारा, अल्पसंख्यकों के हिमायती संगठनों द्वारा लम्बे समय से कही जा रही थी, वह बात प्रतिष्ठित अखबारों से लेकर जांच एजेंसियों के एजेण्डे पर, आम नागरिकों से लेकर खुद वजीरे आजम मनमोहन सिंह के वक्तव्य तक सबके मुंह से सुनाई दी थी। गौरतलब था कि निर्गुट आन्दोलन के सम्मेलन के लिए जाते हुए पत्रकारों से बात करते हुए प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने साफ कहा कि मालेगांव बम विस्फोटों के सम्बन्ध में शक की सुई बजरंग दल की ओर भी मुड़ी है। अपने नपेतुले वक्तव्य में उन्होंने साफ किया कि इस बम विस्फोट में बजरंग दल के शामिल होने के आरोपों को 'न फिलवक्त पुष्ट किया जा सकता है और न ही खारिज किया सकता है'।

बम्बई से निकलने वाले अंग्रेजी अखबार 'डीएनए' में प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट के मुताबिक :

बजरंग दल का नाम अभी भी जांच के घेरे में ही है। एक वरिष्ठ अधिकारी ने बताया कि "कोई कारण नहीं कि प्रस्तुत मामले को खारिज कर दिया जाये। हम लोगों को अभी भी ऐसी कोई बात नहीं पता चली है जो प्रमाणित करती हो कि बजरंग दल इस काण्ड में शामिल नहीं था"। विभिन्न बम काण्डों में इसके कार्यकर्ताओं की भूमिका के चलते ही यह अतिवादी हिन्दू समूह मालेगांव काण्ड में जांच के घेरे में है। **(PM doesn't rule out Bajrang role, Josy Joseph, Wednesday, September 13, 2006 00:50 IST, DNA India)**

और यह कोई पहला मौका नहीं था कि जब शक की सुई बजरंग दल की ओर घूमने की बात सामने आयी हो। देश के अग्रणी अखबार 'टाईम्स आफ इण्डिया' ने (9 सितम्बर 2006) अपनी एक रिपोर्ट में महाराष्ट्र के पुलिस महानिदेशक पी. एस. पसरिचा के हवाले से जो खबर प्रकाशित की थी उसमें भी इस बात का विरोध उल्लेख था। खबर में बताया गया था कि 'पुलिस इस बात का पता लगाने की कोशिश कर रही है कि क्या शुक्रवार को मालेगांव के बम विस्फोटों में बजरंग दल या लश्कर के किसी समूह का हाथ था। बजरंग दल के बारे में यह मालूम ही है कि परभणी की मोहम्मदी मस्जिद और पवना तथा जालना के मस्जिदों पर इस साल के शुरू में हुए बम विस्फोटों में उसने इसी रणनीति का इस्तेमाल किया था।'

निश्चित ही कुछ लोगों को इस सन्देहास्पद व्यक्तियों की सूची में बजरंग दल या संघ परिवारी संगठनों के नाम देख कर अचरज हुआ था। लेकिन जिन्होंने अप्रैल माह में महाराष्ट्र के नांदेड में एक

संघ कार्यकर्ता के घर हुए बम विस्फोट तथा उसमें बजरंग दल के कार्यकर्ताओं की मौत की खबर पढ़ी थी, उन्हें इस बयान पर कोई भी आश्चर्य नहीं हुआ था। आडवाणी की भारत सुरक्षा यात्रा के दिनों में सामने आयी इस घटना ने लोगों के होश उड़ा दिये थे। मृतकों के घरों पर छापा मारने पर वहां नकली दाढ़ी, मुस्लिमों द्वारा आम तौर पर पहने जाने वाले कपड़े तथा कई मस्जिदों एवम् गुरुद्वारों के नक्शे मिले थे। (विस्तृत विवरण के लिये देखें 'समरथ' का पिछला अंक)

यह अकारण नहीं कि इसके कुछ समय बाद ही महाराष्ट्र में सक्रिय अतिवादी हिन्दू संगठन की कार्रवाइयों के बारे में राज्य की गुप्तचर सेवा ने एक क्लासिफाइड रिपोर्ट महाराष्ट्र सरकार को पेश की थी। (DNA- Hardcore Hindu body behind Nanded blast, Dharmendra Tiwari. Sunday, June 11, 2006 20:17 IST) इस रिपोर्ट में महाराष्ट्र में पहली दफा सामने आये आतंकवादी हिन्दू संगठन की कारगुजारियों पर रौशनी डाली गयी थी और उस पर नकेल डालने के लिए विशेष कदम उठाने की सलाह दी गयी थी।

विचारणीय प्रश्न है कि आखिर किस तरह हिन्दुत्व ब्रिगेड के आनुषंगिक संगठनों को मालेगांव काण्ड की संलिप्तता से 'क्लीन चिट' दी गयी ?

**

अगर घटनाओं को सिलसिलेवार ढंग से देखें तो पता चलता है कि एक तरफ प्रधानमंत्री शक की सुई हिन्दुत्व की अतिवादी जमातों की ओर होने की बात कर रहे थे और उसी दौरान बिना किसी प्रमाण के अफवाहों को फैलाने का सिलसिला शुरू हो चुका था। किन्हीं अनाम सूत्रों का हवाला देते हुए पुलिस की ओर से कहा जाने लगा कि इसमें बजरंग दल का हाथ नहीं है। ऐसी खबरें किस ढंग से प्रसारित की जाने लगीं इसका अन्दाज़ा 'हिन्दुस्तान टाइम्स' जैसे प्रतिष्ठित अखबार में छपी इस खबर से लगाया जा सकता है कि किस तरह 'जेहादी आतंकवादियों' को इसके लिये जिम्मेदार ठहराया जाने लगा :

"लश्कर-ए-तोइबा के सरगना राहील ने सहयोगियों के साथ बम विस्फोटों की योजना बनायी - पुलिस के मुताबिक, लश्कर-ए-तोइबा के कमाण्डर राहील अब्दुल शेख (जो 11/7 को बम्बई में हुए बम काण्ड का भी कथित सरगना है) ने मालेगांव काण्ड के लिए अपने सहयोगियों अब्दुल लतीफ खान और जुनैद हुसैन के साथ मिल कर योजना बनायी होगी। ये दोनों प्रतिबन्धित 'स्टुण्डेण्ट्स इस्लामिक मूवमेण्ट आफ इण्डिया' के सदस्य रहे हैं। अधिकारियों के मुताबिक मई महीने से खान और हुसैन दोनों फरार हैं और हो सकता है उन्होंने बम विस्फोट को अंजाम देने के लिए राहील से 'निर्देश प्राप्त किये हों।' एक वरिष्ठ पुलिस अधिकारी ने बताया कि मई माह में बांग्लादेश भागने के पहले राहील कुछ समय तक मालेगांव रुका था"

अल्पसंख्यकों के समूहों को इस काण्ड के लिए दोषी ठहराने का सिलसिला शुरू हो चुका था, इस तथ्य के बावजूद कि

"इस्लामिक आततायी समूहों ने 1990 में कश्मीर में विद्रोह की स्थिति शुरू होने के बाद से भी कभी मस्जिदों

या ऐसी दुकानों पर हमले नहीं किये हैं जहां धार्मिक किताबें बेची जाती हैं। (इण्डियन एक्सप्रेस, 18 सितम्बर 2006)

भारतीय पुलिस सेवा के एक रिटायर्ड अधिकारी एस. एम. मुशरिफ ने 10 अक्टूबर 2006 को के. सी. कालेज, बम्बई में आयोजित एक सभा में इस बात को उजागर किया था कि इस काम को कैसे अंजाम दिया गया होगा। 'मालेगांव काण्ड : आखिर दोषी कौन ?' इस विषय पर उपरोक्त सभा का आयोजन 'सबरंग', 'कम्युनैलिज्म काम्बैट' की ओर से किया गया था (देखें, प्रेस विज्ञापित (www.sabrang.com) उनके मुताबिक 'कार्यपालिका को गलत सूचनायें देने का काम इण्टेलिजेन्स ब्यूरो की ओर से ही किया जाता है और हाल के समयों में उपरोक्त एजेंसी काफी पूर्वाग्रहों का शिकार रही है।' वे कह रहे थे 'इण्टेलिजेन्स ब्यूरो का काम होना चाहिये घटनाओं के बारे में विशिष्ट जानकारी देना, न कि लोगों के एक हिस्से के खिलाफ अफवाहें फैलाने में जुट जाना। इसके बजाय यही देखने में आया है कि वही ऐसी अफवाहें फैलाता है, जिन्हें बाद में मीडिया में स्थान मिलता है। मीडिया को चाहिये कि वह पुलिस या सरकारी गलत सूचनाओं का वाहक न बनें बल्कि खुद जांच करे और घटनाओं के अलग-अलग परिप्रेक्ष्य सामने रखे।'

इस दौरान मीडिया में बैठे लोग, जो हिन्दुत्व के विचारों के समर्थक हैं, वे भी हिन्दुत्व ब्रिगेड को क्लीन चिट देने में अपने स्तर पर भी जुटे थे। एक तर्क यह भी पेश किया गया कि इसके पहले संघ परिवारी संगठन जिन बम काण्डों में फंसे थे, वहां पर बेहद अनगढ़ बमों का इस्तेमाल हुआ और कहा गया कि आरडीएक्स बनाने के लिए जिस तरह की तकनीकी विशेषज्ञता की जरूरत होती है, वह उनमें नहीं होती। यह जुदा बात है कि उन्हीं दिनों अंग्रेजी साप्ताहिक 'आउटलुक' ने एक कवर स्टोरी करके बताया कि आरडीएक्स प्राप्त करना कितना आसान काम है। मीडिया द्वारा गढ़ी जा रही इस 'आरडीएक्स कथा' से झुंझला कर ही शायद मशहूर शायर जावेद अख्तर ने के. सी. कालेज की बैठक में कहा 'क्या आरडीएक्स पर कोई मुहर लगी रहती है जो मुसलमानों के साथ उसके रिश्तों को स्थापित करती है।'

**

पुलिस की कहानी कितनी छिद्रों से भरी है, यह इस बात से पता लगता है कि जहां काण्ड के मुख्य सूत्रधार के तौर पर बताया जा रहा व्यक्ति शब्बीर बैटरीवाला, घटना के एक महीना पहले से ही 'गैरकानूनी गतिविधियां निवारण अधिनियम' (पोटा के स्थान पर बनाया गया कानून) के अन्तर्गत जेल में बन्द रहा है और उसके खिलाफ एकमात्र सबूत उसकी फैक्टरी में आरडीएक्स के अंशों का पाया जाना बताया जाता है।

लेकिन उसी पुलिस ने अपनी जांच के दौरान अहमदनगर के शंकर शेलके के घर से जो बम के खोल और आरडीएक्स बरामद किया, इस काण्ड के लिए पुलिस को कोई अहमियत नहीं जान पड़ती। 16 सितम्बर को शंकर शेलके के घर से बरामद 195 किलोग्राम आरडीएक्स बरामद हुआ, अगले ही दिन इस व्यक्ति ने कथित तौर पर खुदकुशी की और घटना के बाद उसका कर्मचारी फरार हो गया। उसके कुछ दिन बाद औरंगाबाद से कुछ किलोमीटर

दूर एक हिन्दू सरपंच के घर से 300 किलोग्राम अमोनियम नायट्रेट, टाईमर्स और फ्यूजर्स बरामद हुए, लेकिन पुलिस ने मालेगांव काण्ड का पर्दाफाश करने में इन तथ्यों से कोई मदद नहीं ली।

इसी दौरान तमाम सामाजिक कार्यकर्ताओं ने मालेगांव तथा इलाके के मुस्लिम नेताओं ने सरकार और महाराष्ट्र के पुलिस अधिकारियों को यह अपील भी की कि मालेगांव बम विस्फोट की तह तक जाने के लिए इसके पहले के इन काण्डों - अहमदनगर, औरंगाबाद में बरामद आरडीएक्स तथा बम बनाने की सामग्री, अप्रैल माह में संघ परिवार के सदस्य के घर हुए बम विस्फोट आदि काण्डों के बीच - के अन्तर्सम्बन्ध को तलाशें, लेकिन जैसा कि स्पष्ट है 'आतंकवाद विरोधी दस्ते' ने भी पहले से अपना इरादा कर लिया था और मालेगांव काण्ड के बम्बई ट्रेन विस्फोटों और फिर इन सबके आईएसआई के साथ रिश्ते को स्थापित करना है। (और वह उसने कर दिखाया)

अपने एक आलेख 'मालेगांव ब्लास्ट : पार्टिजन एप्रोच एण्ड बायसड पुलिस' में असगरअली इंजीनियर (अंग्रेजी पत्रिका 'सेक्युलर पर्सपेक्टिव - 16-30 नवम्बर 2006) पुलिस की कार्यप्रणाली पर रौशनी डालते हुए कहते हैं :

में नाशिक जिले के पुलिस अधीक्षक ग्रामीण से मिला जिसे मालेगांव बम विस्फोट की जांच का जिम्मा सौंपा गया है और उसके साथ मेरी लम्बी चर्चा हुई। यह स्पष्ट था कि उसकी समझदारी यही थी कि यह किसी मुस्लिम का काम है और इसमें कोई हिन्दू शामिल होने की सम्भावना नहीं है।

उसका तर्क यह था कि मालेगांव शहर एक मुस्लिम बहुल इलाका है और कोई भी हिन्दू मुस्लिम बहुल इलाके में ऐसा नहीं करेगा। उसका तर्क निश्चित ही विचित्र था। सिर्फ मालेगांव ही मुस्लिम बहुल इलाका है, जिला भी नहीं। अगर ग्रामीण क्षेत्रों को जोड़ दें तो वहां हिन्दू ही बहुमत में हैं। और फिर जिला, राज्य और देश का क्या ? उन्होंने यह भी तर्क दिया कि अगर किसी हिन्दू ने इस काम को किया होता तो उसने लोगों को अधिकाधिक हानि पहुंचाने की कोशिश की होती और रात में बम रखा होता जबकि तमाम लोग वहां जुटनेवाले थे।

लेकिन आठ सितम्बर को जब डेढ़ बजे बम विस्फोट हुए, वह भी बहुत भीड़ वाला समय था जबकि शुक्रवार के दिन और खासकर शब-ए-बारात के दिन लोगों का रेला नमाज़ अदा करने आता है। और अगर लाउडस्पीकर्स चन्द मिनटों के लिए रुके नहीं होते, हजारों लोग उस वक़्त मस्जिद से बाहर निकले होते और नुकसान और ज्यादा होता। निश्चित ही इस बात का कोई स्पष्टीकरण नहीं था।

असगर अली इंजीनियर पुलिस अधीक्षक राजवर्धन से हुई मुलाकात का जिक्र करते हुए यह भी सूचित करते हैं कि उनके मुताबिक उन्होंने कई हिन्दुओं से भी पूछताछ की है। इंजीनियर द्वारा यह पूछे जाने पर कि उनके क्या नाम थे ? इस पर वह जवाब नहीं

देते। इंजीनियर पुलिस के दोहरे रवैये की चर्चा करते हुए कहते हैं कि जब किसी मुसलमान से पूछताछ की जाएगी तो उसके नाम तत्काल मीडिया के लिए जारी किये जाएंगे लेकिन अगर हिन्दुओं से पूछताछ हुई तो नाम बताना भी कुफ्र हो गया।

अपने एक आलेख 'विक्टिम्स आफ टेरर' (22 नवम्बर 2006, टाईम्स आफ इण्डिया) में राजनीतिक विश्लेषक ज्योति पुनवानी पुलिस द्वारा मुसलमानों को निशाना बनाने की पुलिसिया रणनीति का उल्लेख करते हुए बताती हैं :

मालेगांव की गिरफ्तारियों के बाद, प्रबुद्ध मुस्लिम सोच रहे हैं कि क्या भारत सरकार ने अमेरिका के तर्ज पर मुसलमानों के एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय से लड़ाने की कोई रणनीति अपनायी है। अहले हदीस को माननेवाले लोग कुरान पर सख्ती से अमल करते हैं, उनकी स्त्रियां पूरा नकाब पहनती हैं। इस नकाब को फाड़ना, और आरोपियों के चेहरों पर उसे फेंकना, उसे पैरों के नीचे फेंकना और यह धमकाना कि ऐसा सलूक परिवार की हर स्त्री के साथ होगा, ऐसे कदम से पुलिस पीड़ितों और समुदाय पर क्या असर छोड़ना चाहती है।

साफ है अपनी पक्षपाती छवि और ढीले ढाले रवैये के चलते मीडिया में आलोचना का शिकार होती रही महाराष्ट्र पुलिस और सूबे के आकाओं के लिए आज सबसे बड़ा मसला विश्वसनीयता का ही है, मुस्लिम समुदाय के प्रति उनके पक्षपातपूर्ण रवैये से उनकी बातों पर शायद ही किसी को यकीन रह गया है।

अभी ज्यादा दिन नहीं बीता है जब जुलाई माह में बम्बई की लोकल ट्रेनों में हुए बम धमाकों में तमाम लोग मारे गये थे। विस्फोटों के तत्काल बाद बम्बई पुलिस ने न केवल लश्कर-ए-तोइबा जैसे संगठनों एवम् सीमापार से ऐसी गतिविधियों को मिलते समर्थन पर हल्ला मचाना शुरू किया, बल्कि अपराधियों की तलाश करने के नाम पर बम्बई के विभिन्न अल्पसंख्यकबहुल इलाकों को अपना निशाना बनाया। इतना ही नहीं हाल के समयों में विदेश यात्रा किये अल्पसंख्यक समुदायों के परिवारों में भी पहुंच कर पुलिस ने जांच-पड़ताल के नाम पर उन्हें आतंकित किया। यह अकारण नहीं था कि अल्पसंख्यक समुदाय के सांसदों या अग्रणी लोगों ने प्रधानमंत्री से मिल कर इस मामले में हस्तक्षेप करने की मांग की थी।

अप्रैल माह में मराठवाड़ा के नांदेड में बजरंग दल/राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ता के घर पर हुए बम विस्फोटों में जिसमें बजरंग दल के दो कार्यकर्ता मारे गये थे। इस बात का भी खुलासा हुआ था कि आडवाणी की यात्रा के दौरान बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे करवाये जायें। संघ के जो कार्यकर्ता मारे गये थे, उनके घरों की तलाशी में न केवल इलाके में अल्पसंख्यक समुदाय के धार्मिक स्थलों के नक्शे मिले बल्कि अल्पसंख्यकों द्वारा आम तौर पर पहने जाने वाले कपड़े एवम् टोपी भी मिली थी। इस मामले की तह तक जाने में भी पुलिस ने कोई रुचि नहीं दिखायी थी।

वर्ष 1992 में बाबरी मस्जिद के विध्वंस के बाद बम्बई में हुए दंगों में पुलिस की पक्षपातपूर्ण भूमिका को तो दंगों की जांच के लिये

बने श्रीकृष्ण आयोग ने भी नोट किया है। इस दंगे में आयोग द्वारा गम्भीर आलोचना का शिकार हुए कई पुलिस अधिकारी आज भी अपने पदों पर कार्यरत हैं।

वैसे मालेगांव काण्ड में महज पुलिस ही नहीं राज्य प्रशासन का जिस तरह का रवैया रहा उसमें भी उसका अल्पसंख्यक विरोध छिपा नहीं। बम विस्फोटों में मारे गये लोगों की हालत पर जहां वह घड़ियाली आंसू बहाती रही वहीं उसने जुलाई में बम्बई की लोकल ट्रेनों में हुए बम विस्फोटों में (जिनमें ज्यादातर हिन्दू मारे गये थे) की तुलना में मालेगांव में बम विस्फोट में मारे गये लोगों के (जिनमें ज्यादातर मुस्लिम मारे गये थे) परिवारजनों को महज 1/5 वां भाग मुआवजा दिया। (द मिल्ली गैजेट, 14 सितम्बर 2006)

गौरतलब है कि मालेगांव की आबादी का 75 फीसदी समुदाय जोकि अल्पसंख्यक हैं उसे किसी अप्रिय घटना की आशंका थी, इसलिये शब-ए-बारात के पहले स्थानीय अमन कमेटी की बैठक में उन्होंने इस पर विस्तार से चर्चा की थी। पुलिस अधिकारियों को भी सूचित किया था, लेकिन किसी के कान पर जूं नहीं रेंगी थी।

अल्पसंख्यकों के खिलाफ जिस किस्म का संस्थागत भेदभाव चलता है, वह सबके सामने था। 6 सितम्बर को समाप्त हुए गणेशोत्सव तक जहां पुलिस ने सुरक्षा व्यवस्था को चाकचौबन्द रखा था, वहीं आठ सितम्बर शब-ए-बारात के दिन उसने कब्रिस्तान के पास जहां नमाज अदा करने हजारों लोग जुटे थे, वहां मामूली सिपाही भी नहीं भेजा था। सुरक्षा व्यवस्था को कड़ा रखने की बात ही दूर थी।

पुलिस के इस पक्षपातपूर्ण रवैये का ही नतीजा था कि 14 नवम्बर 2006 को मालेगांव के मुसलमानों ने दिनभर के शान्तिपूर्ण बन्द का आयोजन कर अपने गुस्से का इजहार किया। यही वह दिन था जब सूबे के मुख्यमंत्री विलासराव देशमुख वहां एक अस्पताल का शिलान्यास करने के लिये आये थे।

वही अस्पताल जिसकी योजना नब्बे के दशक में बनी थी, लेकिन बम काण्ड के बाद मंत्रिमण्डल ने इसके लिए राशि मंजूर की। लोग बताते हैं कि अगर कोई ठीक अस्पताल मालेगांव में होता तो बम काण्ड में घायल कई लोगों की जान बचायी जा सकती थी !

बम्बई से प्रकाशित होने वाले एक अग्रणी अंग्रेजी दैनिक में अक्टूबर के दूसरे सप्ताह में पीटीआई के हवाले से एक खबर छपी जिसका शीर्षक था 'मालेगांव के मुस्लिम संगठन को चेतावनी भरे पत्र मिले।' खबर के मुताबिक :

पुलिस ने बताया कि मालेगांव के एक अग्रणी मुस्लिम संगठन को धमकी भरा पत्र मिला है। 'संघ परिवार और भवदीय ब्राह्मण संघ' की ओर से हिन्दी में भेजा गया पत्र जमिअतुल उलेमा के नाम सम्बोधित है, जो मालेगांव से तीन किलोमीटर दूर वाजिरखेड़े गांव से पोस्ट हुआ है। पुलिस ने हालांकि पत्र में लिखी बातों को उजागर नहीं किया। मंगलवार रात अज्ञात लोगों के खिलाफ मुकदमा दर्ज किया गया। पुलिस मामले की जांच कर रही है। (पीटीआई, बुधवार, 11 अक्टूबर 2006)

यह अनाकलनीय है कि आखिर क्यों पत्र में लिखी बातों के बारे में रहस्य बना कर रखा गया है।

शेष पृष्ठ 20 पर.....

साधो, हाल में एक सांस्कृतिक समारोह में गया। सोचा, हमारी संस्कृति सबसे प्राचीन और सबसे महान है। देखें, यह जीवन में किस तरह उतरी है।

साधो, वहां नृत्य, संगीत, नाट्य आदि हुए और कार्यक्रम देखकर मेरा मन खुश हुआ। देखो, गलत मत समझना नृत्य, संगीत, नाट्य देखकर खुश नहीं हुआ। वहां एक और कार्यक्रम हुआ, जिसका उल्लेख निमंत्रण-पत्र पर नहीं था। साधो, वहां आवाजें कसी गयीं, गालियां बकी गयीं। कार्यकर्ता ने माइक पर कहा कि सभी माताएं-बहिनें रुक जायें। यह सुनकर पुरुषों को याद आया कि उनका क्या कर्तव्य है। उन्होंने महिलाओं पर कागज वगैरह फेंके। साधो, कुछ लोग इसे हुल्लड़ कहते हैं। वे गलत हैं। साधो, वास्तविक सांस्कृतिक कार्यक्रम यही है। संयोजक समझते हैं कि नृत्य, संगीत, नाट्य हमारी सांस्कृतिक उपलब्धि के चिह्न हैं। यह सरासर झूठ है। इनके सिवा जो अन्य कार्यक्रम वहां होते हैं वही हमारी संस्कृति के चिह्न हैं। मगर इनका कोई उल्लेखन निमंत्रण-पत्र पर नहीं होता। यह धोखा है। सच्ची संस्कृति को छिपाकर झूठी संस्कृति को सामने लाना; सरासर धोखा है। साधो, हम लोग जब ऐसा कार्यक्रम करेंगे, तब निमंत्रण-पत्र में छापेंगे कि इस समारोह में आवाजकशी, गाली-गलोच, हल्ला, स्त्रियों पर कंकड़ फेंकना, कुर्सियां तोड़ना आदि सांस्कृतिक कार्यक्रम होंगे। इसके साथ ही कुछ नृत्य-संगीत वगैरह भी हो जायगा, जिसके लिए दर्शक हमें क्षमा करेंगे। साधो, जिसे लोग 'हुल्लड़' कहते हैं, वही वास्तविक सांस्कृतिक कार्यक्रम है और नृत्य-संगीत वगैरह तो इसकी 'संगत' के लिए हैं, जैसे गाने में तबले की संगत होती है।

साधो, मन प्रसन्न हो गया। तुम्हें बताता हूं कि जिसे लोग 'हुल्लड़' कहते हैं, वह सांस्कृतिक विकास किस तरह बताती है। साधो, हमारी संस्कृति में सत्य का बड़ा महत्व है। अगर संगीत हो रहा है, जो ऊंचे दर्जे का है, फिल्मी नहीं है और वह हमारी समझ में नहीं आ रहा है तो हमें क्या करना चाहिए ? चुप बैठे रहना चाहिए ? नहीं साधो, यह मिथ्याचार है। हमें हल्ला करके यह प्रगट कर देना चाहिए कि हमारे पल्ले नहीं पड़ रहा है। अपनी नासमझी को छिपाये रहना, पाखण्ड है। जो लोग आवाजें कसते हैं या बकरे की बोली बोलते हैं या बेमौके ताली पीटते हैं, वे इस बात की स्पष्ट घोषणा करते हैं कि हमारी समझ में नहीं आ रहा है। साधो, इस सत्य आचरण की प्रशंसा होनी चाहिए कि निंदा ? आखिर हम सत्यवादी हरिश्चन्द्र के देश के हैं !

साधो, हुल्लड़ में बहुत गहरे संकेत होते हैं। डार्विन नाम का एक वैज्ञानिक हो गया है। उसने सिद्ध किया था कि आदमी पहिले बंदर था, फिर विकास करते-करते आदमी हुआ। बंदर से आदमी तक के विकास की कड़ियों में से एक कड़ी नहीं मिलती। उसे 'मिसिंग लिंक' कहते हैं याने गायब कड़ी। आधा बंदर और आधा आदमी ऐसा

एक जीवधारी कभी पृथ्वी पर था, पर इसके चिह्न मिलते नहीं हैं। साधो, जब समारोह में कोई चिल्लाता है, हुल्लड़ करता है, तब वह विश्व के वैज्ञानिकों से कहता है, कि 'मिसिंग लिंक' तो मैं यहां बैठा हूं, तुम कहां खोज रहे हो ? साधो, भारत में ज्ञान की साधना निरंतर होती रही है। इसीलिए इस देश के कुछ युवक जिनके पास विकासवाद का एक रहस्य है, उसकी घोषणा करते हैं। वैज्ञानिक ध्यान नहीं देते, यह उनकी गलती है। अपनी ओर से हम ज्ञान की साधना में पूरा योगदान करते हैं।

साधो, लोग शिकायत करते हैं कि स्त्रियों से दुर्व्यवहार होता है। उन्हें छेड़ा जाता है, आवाजें कसी जाती हैं एक तो मैं इसे कोई बुराई नहीं मानता। दूसरी बात यह है कि यह भी हमारे सांस्कृतिक विकास की निशानी है। साधो, तुम जानते हो, हमारे यहां आदमी को अच्छा बनाने के लिए शुरू से ही बड़ी कोशिश होती रही है। सोचा कि आदमी को स्त्री बुरा बनाती है विश्वामित्र जैसे तपस्वी को बिगाड़ दिया तो बण्टूराम और टटपुंजियाप्रसाद और बुद्धलाल की क्या बिसात ! साधो, इसीलिए नीतिवालों ने नियम बनाये कि स्त्री और पुरुष दूर-दूर रहें, परस्पर शत्रु समझें; कभी संपर्क में न आयें। कहा कि एकांत में माता और बहिन से भी बात न करो। इस तरह सैकड़ों सालों से आदमी को अच्छा बनाने की साधना अपने समाज में चल रही है। और परिणाम तुम देख रहे हो आशा से अधिक है। समारोहों में जब स्त्री-पुरुष इकट्ठे होते हैं, तब सैकड़ों सालों की यह साधना जोर करती है स्त्री डरती-सहमती है और पुरुष यह देखकर आपे से बाहर हो जाता है कि उसका शत्रु सामने हैं। साधो, उसे अजीब लगता है। उसे लगता है कि स्त्री तो एक भिन्न किस्म का प्राणी है। यह प्राणी विचित्र है और वह वैसे ही भड़कता है जैसे अजनबी को देखकर कुत्ता भौंकता है।

साधो, अपने समाज में जो 'पिछले दरवाजे की नैतिकता' की साधना कई शताब्दियों से हो रही है, उसके सुपरिणाम हैं ये। आखिर बुरे और भले में खुले और ढंके का भेद तो है ही ! साधो, इसी नैतिकता ने यह सिखाया कि स्त्री डिब्बे में बंद करके रखने की चीज है। हमारा समाज मुरब्बे का बड़ा शौकीन है। वह बगीचे से फल तोड़ लाता है, उसका मुरब्बा बनाकर रख लेता है और खाता रहता है। अब इस आधुनिक शिक्षा ने सब गड़बड़ कर दिया। स्त्रियां मुरब्बे के डब्बे में रहती नहीं हैं। वे जब बाहर दिख जाती हैं, तब इस देश के पुरुष की आत्मा को बड़ी चोट पहुंचती है। शताब्दियों के उसके करे-धरे पर पानी फिर रहा है। नैतिकता का नाश हो रहा है। संस्कृति का पतन हो रहा है। साधो, उसका कर्तव्य है कि वह इसका विरोध करे। वह विद्रोह में आवाजें कसता है, छेड़ाइ करता है, गाली बकता है। अब बताओ, उसका यह सात्विक पवित्र विद्रोह क्या निंदा का पात्र है ?

शेष पृष्ठ 18 पर.....

कुचीपुडी का संसार

शशिप्रभा तिवारी

दिल्ली के गुरु जयराम राव और वनश्री राव के प्रयासों से कुचीपुडी को अंतरराष्ट्रीय क्षितिज पर एक नई पहचान मिली है। नृत्य के प्रति पूर्ण समर्पित इस युगल को भारत सरकार द्वारा 1998 में संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार और गुरु जयराम को 2004 में पद्मश्री से सम्मानित किया जा चुका है। कई राज्य सरकारों ने भी इन्हें सम्मानित किया है। इतना ही नहीं, अमेरिका, मैक्सिको, मॉरीशस में भी इन्हें विशेष सम्मान मिला है।

गुरु जयराम राव के अनुसार कुचीपुडी नृत्य, दक्षिण भारत के आंध्र प्रदेश का शास्त्रीय नृत्य है। इसका जन्म और विकास मूलतः कृष्णा ज़िले के कुचीपुडी ग्राम में हुआ। इसका प्राचीन नाम *भागवत मेला नाटकम* है। यह नृत्य भगवत अथवा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए उन्हीं के समक्ष मंदिरों या उसके आसपास किया जाता था।

कुचीपुडी मुख्यतः नृत्य-नाटिका शैली का नृत्य है। इसमें राजनर्तकी भागवत मेला और देवदासी तीनों का सम्मिश्रण है। कुचीपुडी गांव के ब्राह्मण पुरुष नर्तक *भागवत मेले* में अभिनय करते हैं, जिन्हें 'भगवतलु' कहा जाता है। भगवतलु गायन, नर्तन और अभिनय तीनों में पारंगत होते हैं। साथ ही महिला पात्रों को भी मंच पर पुरुष कलाकार ही साकार करते हैं।

ऐतिहासिक मान्यता है कि सोलहवीं शताब्दी के पहले से यह नृत्य अस्तित्व में था। उन दिनों भक्ति आंदोलन चरमोत्कर्ष पर था, जिसका प्रभाव कुचीपुडी नृत्य पर भी पड़ा। साक्ष्य के रूप में अमरावती तथा वारंगल ज़िलों के मंदिरों की मूर्तियों को भी प्रस्तुत किया जाता रहा है। हालांकि, कुचीपुडी नृत्य के विकास में दो योगियों के नाम भी जुड़े हुए हैं तीर्थ नारायण यती और सिद्धेन्द्र योगी।

गौरतलब है कि सिद्धेन्द्र योगी, नारायण यती के शिष्य भी थे। सिद्धेन्द्र योगी को ही कुचीपुडी का जनक माना जाता है, जिन्होंने गुरु-शिष्य परंपरा की नींव डाली उल्लेखनीय है कि नारायण यती एक कृष्ण भक्त थे, सो उन्होंने *कृष्ण लीला तरंगिनी* लिखी। उनकी तरंगिनी आज भी कुचीपुडी नृत्यांगनाओं एवं गुरुओं के बीच बहुत लोकप्रिय है। इसी तरंगिनी के आधार पर 'तरंगम' की प्रस्तुति हर नृत्य समारोह में पेश की जाती है। जबकि, दूसरी ओर सिद्धेन्द्र योगी ने *भामाकलापम* जैसी अमरकृति दी। सत्यभामा और कृष्ण की कथा का वर्णन इस कृति में है। सिद्धेन्द्र योगी, खुद युवा नर्तकों को *भामाकलापम* नृत्य-नाटिका प्रस्तुत करने के लिए प्रशिक्षित करते थे।

इस संदर्भ में एक और घटना का विवरण मिलता है। वह यह कि गोलकुंडा के तत्कालीन नवाब कुली कुतुबशाह *भामाकलापम* नृत्य-नाटिका देखकर इतने प्रसन्न हुए कि कुचीपुडी नर्तकों को

उन्होंने कुचीपुडी ग्राम दान में दे दिया। इस तरह, कुचीपुडी नर्तकों को एक स्थायी निवास और कला-साधना के लिए आधार मिल गया।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। इस नियम के अनुकूल जो ढलता है, वह आगे बढ़ता है। यह एक यथार्थ है। कुचीपुडी नृत्य गुरु लक्ष्मी नारायण शास्त्री ने सबसे पहले कुचीपुडी गांव से निकलकर दक्षिण के सांस्कृतिक केंद्र चेन्नई को अपनी कर्मभूमि बनाया। यहां उन्होंने भरतनाट्यम की तरह कुचीपुडी में एकल नृत्य की शुरुआत की। उनके बाद, वेदांतम राघवैया, वेम्पति चिन्ना सत्यम, पेद्दा सत्यम और पशुपति कृष्णमूर्ति भी मद्रास पहुंचे। वेम्पति चिन्ना सत्यम को छोड़कर तीनों ने नृत्य गुरु के रूप में तमिल-तेलुगु फिल्मों की ओर रुख कर लिया। धीरे-धीरे वह फिल्मों में नृत्यों का निर्देशन करने लगे। दूसरी ओर, वेम्पति चिन्ना सत्यम ने चेन्नई में कुचीपुडी आर्ट अकादमी की स्थापना की। उन्होंने कुचीपुडी की तकनीकों में कई सुधार किए। इसे अन्तर्राष्ट्रीय पहचान और लोकप्रियता दिलाने की उन्होंने जी तोड़ कोशिश की और वे सफल भी रहे। उनकी लोकप्रियता का अंदाज़ा इस बात से सहज ही लगाया जा सकता है कि उनके शिष्य विश्व के हर कोने में मौजूद हैं। उनकी कुछ मशहूर शिष्यों से प्रसिद्ध कुचीपुडी नृत्यांगनाएं जैसे-शोभा नायडू, यामिनी कृष्णमूर्ति, वनश्री राव, कमला रेड्डी और फिल्म अभिनेत्रियां जैसे-हेमामालिनी, वैजयंतीमाला, शशिकला आदि भी रह चुकी हैं। इन गुरुओं एवं नृत्य-निर्देशकों ने महिला कलाकारों की प्रतिभा को पहचाना और उन्हें आगे बढ़ाया। इस तरह, सन् 1940-50 के मध्य ही नृत्यांगनाओं का प्रवेश कुचीपुडी नृत्य में संभव हो सका।

शास्त्रीय नृत्य के कलाकारों में ज्ञान, भावना, संवेदना, परिपक्वता सभी गुणों की आवश्यकता होती है। सामान्यतः एक कलाकार को संस्कृत भाषा के तीन ग्रंथों की जानकारी होनी चाहिए। ये ग्रंथ हैं-भरत मुनि का *नाट्यशास्त्र*, नंदीकेश्वर का *अभिनय दर्पण* और नपम सेनानी की *नृत्य रत्नावली*। वैसे तो शास्त्रीय नृत्यों के मुख्य तीन तत्व हैं-नाट्य नृत और नृत्य। कुचीपुडी के कलाकार नृत्य करते समय मुख्यतः *नाट्यशास्त्र* के नियमों का ही पालन करते हैं। नाट्य यानी नाटक या अभिनय इसका मुख्य अंश है। नृत यानी विशुद्ध नृत्य जिसमें पैरों की ताल और गति की प्रधानता होती है। इसमें पैरों की गति तीन तरह की होती है-अडवु, जतिस एवं तीरमानम। जबकि नृत्य में तालबद्ध गीत, अभिनय, चेहरे के हाव-भाव आदि का संयोजन होता है।

तकनीकी सूक्ष्मता के बाद अभिनय महत्वपूर्ण होता है। अभिनय भी चार तरह के होते हैं- आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक।

आंगिक और आहार्य अभिनय सामान्य होते हैं, जबकि वाचिक यानी नृत्य के दौरान कलाकार द्वारा संवाद प्रयोग कुचीपुडी नृत्य का विशेष आकर्षण है। क्योंकि अन्य किसी भी शैली में इस तरह की परंपरा नहीं है। कुचीपुडी गुरुओं का मानना है कि अभिनय की परिपक्वता वर्षों की साधना के पश्चात ही आ पाती है और एक कलाकार में तीस वर्ष की उम्र के बाद ही वह आती है, जब वह अपने भावों को अपनी स्टाइल में पूरी तरह व्यक्त करता है।

गुरु वेम्पति चेन्ना सत्यम ने कई नृत्य-नाटिकाओं जैसे *हरविलासम*, *चंडालिका*, *कृष्ण-गोपी*, *अर्धनारीश्वर*, *रुक्मणी-कल्याणम*, *भामाकलापम* आदि की रचना की है। इसके अलावा कई रचनाओं की कृति और हज़ारों पदम हैं, जिन पर अभिनय किया जाता है। एक नर्तक या नर्तकी 10-12 पदम सीखकर उसे प्रस्तुत करते हैं। कुचीपुडी में नृत्य-नाटिका में हर पात्र को अलग वेश-भूषा, अलग अंदाज़ में दिखाने की परंपरा है। जबकि भरतनाट्यम या ओडिशी में एक पात्र ही सीमित समय में गीत के अनुसार अभिनय करता है। शास्त्रीय परंपराओं का निर्वाह करते हुए भी नाट्यधर्मी के साथ-साथ लोकधर्मी का हल्का-सा असर नृत्य में झलकता है। जैसे क्रोध के भाव को हमें नृत्य में दर्शाना है। हम एक छोटे बच्चे, एक किशोर या युवा और एक वृद्ध पर परिस्थिति और पात्र के अनुसार मन के भाव को अभिव्यक्त करेंगे। मान लीजिए कि नर्तकी को बालक कृष्ण और यशोदा के भावों को प्रस्तुत करना है। ऐसे में सबसे ज़्यादा ज़रूरी है पद के अर्थ को समझना, फिर यह सोचना कि कौन-सा रस या भाव पात्रानुकूल होगा। जैसे कृष्ण शिशु हैं तो वात्सल्य रस का प्रयोग, गोपाल हैं तो करुण रस का, और युवा हैं तब नवरस का प्रयोग उचित है।

‘सिद्धेन्द्र कलाक्षेत्रम’ में प्रह्लाद-नाट्यम और *भामाकलापम* नृत्य-नाटिकाएं नर्तक-नर्तकी को सीखना ज़रूरी है। विष्णु-पुराण से उद्धृत *भामाकलापम* में अष्ट-नायिका और नव रस का पूर्ण संयोग नज़र आता है। इस नृत्य नाटिका में मंचन में 3-4 घंटे का समय लगता है। दरअसल एकल नृत्य के अभिनय एवं नृत्य-नाटिका के

अभिनय में काफ़ी फ़र्क़ होता है। यही बात कुचीपुडी के साथ भी लागू होती है।

सभी जानते हैं कि कथकली, कृष्ण अट्टम, कलिमारपट्टू आदि केरल के अन्यतम कला रूप हैं। इसमें कथकली को तो यू.एन.ओ. से अंतरराष्ट्रीय मान्यता भी मिल चुकी है। इसी तरह उड़ीसा का छाऊ भी लोकप्रियता के शिखर पर है। लेकिन, कुचीपुडी का मूल स्रोत भागवत मेला और इसके कलाकार आज भी आंध्र प्रदेश तक सीमित हैं। उन्हें इसे आगे लाने का खुद प्रयास करना होगा। साथ ही, नई नृत्य-नाटिका, नए विषयों का चयन भी ज़रूरी है। यह नृत्य शैली लोक-धर्मी अधिक है इसलिए इसमें इस्तेमाल होने वाली हस्तमुद्राओं, भाव-भंगिमा, आंखों की गति, मुखाभिनय आदि में भी शास्त्रीयता का पुट लाना होगा।

विषत वर्षों में हमने (गुरु जयराम राव और वनश्री राव) रवींद्रनाथ ठाकुर की *चित्रांगदा*, कालिदास के *कुमारसंभव* आदि पर नृत्य-नाटिकाएं प्रस्तुत कीं, जो बहुत सराही गईं।

दरअसल अभिनय दो शब्दों ‘अभि’ और ‘नि’ के मेल से बना है। इसकी विवेचना भरत मुनि ने *नाट्यशास्त्र* में, विश्वनाथ ने *साहित्य दर्पण* में, जगन्नाथ ने *रसगंगाधर* आदि में अपने-अपने तरीके से की है। इन विद्वानों के अनुसार पात्र की मानस-स्थिति, भौतिक परिस्थिति और भाव के अनुकूल जब अभिनय किया जाए, जो दर्शकों के हृदय को स्पर्श करे वही सही मायने में अभिनय है। वास्तव में रचनाकार की रचना के निहितार्थ को प्रेषित करना और उसका संप्रेषण सही एवं संतुलित मात्रा में होना कलाकार की सफलता की कुंजी मानी जाती है। संस्कृत ग्रंथों के अतिरिक्त *साहित्य कोष* (हिंदी) में अभिनय को इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है ‘अभिनयति हृदयगत भाव प्रकाशयति’ अर्थात् अभिनय वही है जो हृदय की भावनाओं को उद्घाटित कर दे।

बहरहाल भारत के अनुसार अभिनय के मानदंड को निर्धारित नहीं किया जा सकता। कलाकार की भावना और अभिनय उसकी अपने संसार और उसकी स्वयं की परिधि के अंतर्गत समाहित रहते हैं।

रंग-प्रसंग अप्रैल-जून 2005 से साभार

पृष्ठ 16 का शेष.....

साधो, लोग ऊलजलूल बातें करते हैं। वे कुछ नहीं समझते। अगर दो-चार हिंदी फिल्में देख आये, तो सब समझ में आ जाय। साधो, हर युवक स्त्री का प्रेम चाहता है। प्रश्न है स्त्री प्रेम कैसा आदमी को करती है ? इसका उत्तर शास्त्रों में नहीं लिखा। इसका उत्तर हमारे आज के नीति-शास्त्र याने फिल्में देती हैं। साधो, फिल्मों में देखो, अच्छी स्त्री हमेशा उचक्के से प्यार करती है। आजकल फिल्मों में किशोरकुमार बड़ा लोकप्रिय है। फिल्म में अच्छी स्त्री उसी से प्यार करती है। क्यों ? इसलिए कि वह उचक्कापन करता है। साधो, जिस युवक को अच्छी स्त्री का प्यार चाहिए, वह उचक्कापन

अवश्य करेगा। शरीफों को कोई स्त्री नहीं चाहती। यह अटल फिल्मी सत्य है।

साधो, तुम सब भोंदू हो। लोग जैसा कहते हैं, वैसा मान लेते हो। तुम जिसे हुल्लड़ कहते हो वह सांस्कृतिक आचरण हैं। तुम उसे हुल्लड़ कहना ही चाहते हो, तो सांस्कृतिक हुल्लड़ कहो। और यह मत भूलो कि सैकड़ों सालों की नैतिक साधना से हमें यह उपलब्धि हुई है। साधो, अगर तुम्हारे दिमाग साफ हो गये हैं, तो अगले समारोह में तुम भी लंगोटी लगाकर हुल्लड़ करना। तुम जिस दिन पिटकर आओगे, उस दिन मुझे बेहद खुशी होगी।

10/9/1961

साझी विरासत क्या है : यह कैसे बनती है

कई बार आपने देखा होगा कि जब कभी भी ऐतिहासिक और मौजूदा समय और परिवेश के लिहाज से संस्कृति की चर्चा की जाती है तो परंपरा, विरासत और रिवाज़ जैसे शब्द अकसर चर्चा में आ जाते हैं। इन शब्दों का मतलब क्या है ? और संस्कृति से हमारा क्या मतलब है ? साझा विरासत के साथ संस्कृति का क्या संबंध है ? क्या हर संस्कृति बुनियादी तौर पर साझा होती है या कोई ऐसी संस्कृति भी होती है जिसे हम गैर-साझी सांस्कृतिक विरासत कह सकें ? संस्कृति हमें विरासत में कैसे मिलती है ?

विरासत का मतलब होता है कोई चीज विरसे में पाना। विरासत और उत्तराधिकार (कानूनी शब्द, जिसका आशय विरासत में धन या संपत्ति पाने से होता है) जैसे शब्द हमें अतीत का अहसास कराते हैं। इसके साथ ही ये शब्द इस बात का भी बोध कराते हैं कि हमारे अतीत का कुछ हिस्सा या पूरा का पूरा अतीत आज भी हमारे साथ है, हमारे पास मौजूद है। जब हम सांस्कृतिक विरासत की बात करते हैं तो आमतौर पर हम अतीत की संस्कृति के उन पहलुओं का जिक्र कर रहे होते हैं जो या तो हमारे पास फिलहाल मौजूद हैं या जो हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं। संस्कृति के यही पहलू हमारी संपत्ति और हमारे संसाधन हैं। साझे का आशय एक विशेष किस्म की संस्कृति से है जो मिलीजुली है, परंतु विखंडित नहीं है। कोई संस्कृति साझी या पृथक (या विखंडित या गैर-साझी) भी हो सकती है। कुल मिलाकर ध्यान देने वाली बात यह है कि समग्रता में कोई भी संस्कृति न तो पूरी तरह साझा होती है और न ही पूरी तरह गैर-साझा। हर संस्कृति में कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो दूसरी संस्कृतियों से मिलते-जुलते होते हैं, जिन्हें हम साझा सांस्कृतिक तत्व कह सकते हैं, जबकि उसके कुछ तत्व उसकी अपनी खासियत होते हैं, जो प्रायः औरों में नहीं पाए जाते।

संस्कृति को व्यवहारों और तौर-तरीकों के एक ऐसे समुच्चय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें हमारा ज्ञान, हमारी मूल्य-मान्यताएं और नैतिकता, कानून, रीति-रिवाज, जीवनशैली और ऐसी सभी क्षमताएं और आदतें शामिल होती हैं जो हमें समाज का हिस्सा होने के नाते मिलती हैं। किसी खास समाज की संस्कृति को समझने का एक तरीका यह भी है कि हम उसकी **जीवनशैली** (आहार, वेशभूषा, बोली, रीति-रिवाज आदि), **सांस्कृतिक उत्पादों** (कला एवं शिल्प, संगीत, नृत्य, सौंदर्यशास्त्र आदि) और **नैतिकता** (नीतिशास्त्रीय अवधारणाएं, आदर्श, अच्छे और बुरे की समझ, अपेक्षित और अनपेक्षित आदि) इन तीन अवधारणाओं का अध्ययन करें। ये तीनों चीजें उस जटिल समुच्चय का अभिन्न हिस्सा हैं जिसे संस्कृति कहा जाता है। ध्यान देने वाली बात यह है कि इन तीनों चीजों को मनुष्य तभी व्यवहार में ला सकते हैं जब वह किसी समाज के सदस्य हों। समाज के बिना, अकेले रहने पर उनकी क्षमता

सीमित हो जाती है। इसीलिए, हम कह सकते हैं कि संस्कृति किसी की व्यक्तिगत नहीं बल्कि एक पूरे समूह या समाज की परिघटना होती है। जब हम एक साझा संस्कृति की बात करते हैं तो हमारा आशय इस बात से होता है कि संस्कृति के उपरोक्त सभी पहलुओं में एक साझापन मौजूद था और वह अभी भी कायम है।

भारतीय संस्कृति की साझा विरासत हमारे इतिहास और हमारे हालात की एक अनूठी उपज है। हमें यह विरासत इतिहास की एक लंबी निरंतरता के जरिए हासिल हुई है। इस विरासत को 'सत्ता के मूल्यों' और 'मानवीय मूल्यों', इन दोनों पदों के जरिए समझना चाहिए। कहने का मतलब यह कि इस विरासत को यह खास शकल देने में हमारे आम लोगों और शासकों, दोनों ने अपने-अपने हिस्से का योगदान दिया है। इस विरासत का एक अहम पहलू उसका समन्वयी और बहुलवादी स्वरूप रहा है। भारत की साझा विरासत के इन आयामों को कुछ ऐसे प्रतीकों की मदद से और अच्छी तरह समझा जा सकता है जो *भारत* कही जाने वाली इस इकाई के सार को उजागर करते हैं। इस लिहाज से किसी देश या भौगोलिक इलाके का नाम भी ऐसा ही एक अहम प्रतीक हो सकता है। कोई भी देश अपना नाम या तो वहां रहने वाले लोगों के नाम से ग्रहण करता है या उसका नाम किसी महत्वपूर्ण भौतिक आयाम पर आधारित होता है।

1. इंडिया : यह शब्द सिंधु नदी (संस्कृत में *सिंधु*, पुराना ईरानी *हिंदु*, ग्रीक *इंडोस*, और प्राचीन ईरानी *हप्ता हिंदावो*, जो संस्कृत के *सप्त सिंधवा* अर्थात् सात नदियों से मिलता-जुलता है) से लिया गया है। शुरू में सिंधु नदी (जो अब पाकिस्तान में है) के दक्षिण में पड़ने वाले इलाके को इसी नाम से जाना जाता था। धीरे-धीरे यह नाम सिंध (पाकिस्तान का एक प्रांत) के इलाके से बहुत दूर तक फैल गया। पश्चिम, मुख्य रूप से ग्रीक और लैटिन समाजों में इंडिया नाम 2,000 साल से भी पहले प्रचलित हो चुका था। इस विवरण से पता चलता है कि इंडिया शब्द इस उपमहाद्वीप के सभी समाजों की एक महान विरासत का प्रतिनिधित्व करता है। यह एक सकारात्मक नाम है और इस इलाके और यहां के लोगों की भौगोलिक, सांस्कृतिक और भौतिक पहचान का एक स्पष्ट प्रतीक है। पिछले 2,000 सालों से इंडिया नाम को इंसानियत के बहुत बड़े तबके की चेतना में एक अनूठी जगह और पहचान मिल चुकी है।

2. भारत या भारतवर्ष : यह नाम इस इलाके के कुछ हिस्सों में बसने वाले समुदाय के नाम पर आधारित है। भारत शब्द ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी (1500 ई. पू. के आसपास) में यहां आए भारतीय-आर्य समुदाय के एक महत्वपूर्ण हिस्से का नाम था। भारतवर्ष (यानी जहां भारत नामक समुदाय रहता है या केवल भारत) नाम कम से कम 2,500 साल पहले तक केवल उत्तर-पश्चिमी भारत के एक खास हिस्से के लिए इस्तेमाल किया जाता था मगर बाद में यह भी एक

बहुत बड़े भौगोलिक इलाके तक फैल गया। महाभारत महाकाव्य में यह नाम इस समूचे क्षेत्र के लिए इस्तेमाल होता हुआ दिखाई देता है।

3. जम्बू द्वीप : जम्बू शब्द का मतलब होता है जामुन (जामुन का पेड़ या फल, दोनों) और जम्बू द्वीप का आशय संभवतः किसी ऐसे द्वीप से रहा होगा जहां जामुन के पेड़ बहुतायत में पाए जाते थे। यह नाम भारत को उसके एक विख्यात शासक, सम्राट अशोक (तीसरी शताब्दी ई. पू. के आसपास) ने दिया था। उन्होंने इस क्षेत्र की एक नई पहचान कायम की। यह पहचान इस इलाके की सीमाओं या यहां के लोगों के किसी गुण पर नहीं बल्कि यहां की आबोहवा और पर्यावरण पर आधारित थी।

4. आर्यावर्त : इस नाम का शाब्दिक अर्थ होता है आर्यों की भूमि। यह नाम इस देश पर विजय प्राप्त करने वाले आर्यों ने दिया था। यह नाम खासतौर से हिमालय और विंध्य पर्वत शृंखलाओं के बीच स्थित इलाके के लिए इस्तेमाल किया जाता था क्योंकि इस इलाके की भाषा पर आर्य संस्कृति का प्रभाव काफी गहरा था।

5. हिंद या हिंदुस्तान : यह नाम शुरुआती मुस्लिम शासकों ने दिया था। क्षेत्रफल के लिहाज से हिंदुस्तान भी वही था जो आर्यावर्त था। यानी हिंदुस्तान भी मध्यभूमि के इलाके को ही कहा जाता था। बाद में धीरे-धीरे समूचे क्षेत्र को इसी नाम से जाना जाने लगा।

इतिहास के अलग-अलग चरणों में हमारे देश को मिले अलग-अलग नाम इस देश के इतिहास की जटिलता और बहुलता का आईना हैं। इन नामों से अलग-अलग भाषायी प्रभावों (लैटिन, ग्रीक, संस्कृत, अंग्रेजी और फारसी), विभिन्न शासकों (आर्य, बौद्ध और मुस्लिम), और समुदायों (भारत समुदाय) के नाना प्रयासों और देश को पहचानने के अलग-अलग मानदंडों (यहां की आबोहवा, भौगोलिक सीमा) आदि का पता चलता है। बहरहाल, अब ये सारे नाम चलन में हों या न हों, मगर कुल मिलाकर यह सभी एक ही इकाई का प्रतिनिधित्व करते हैं।

पृष्ठ 15 का शेष.....

वैसे कई सारे सूत्र हैं जो अभी भी छूटे हैं। मसलन बम काण्ड के बाद वारदात के स्थान से बरामद दो साइकिलों के बारे में बताया गया था कि इन साइकिलों का प्रयोग बम विस्फोट कराने में हुआ है। मालेगांव के ही दुकान से नयी खरीदी गयी इन साइकिलों के बिक्रेता द्वारा दिये गये तथ्यों के आधार पर यह चित्र तैयार किये गये थे। बिक्रेता ने यह भी बताया था कि दोनों लोग हिन्दी बोल रहे थे। अभी भी उन दो साइकिलसवारों का पता नहीं लग सका है। क्या ऐसे महत्वपूर्ण सबूत के बिना पुलिस ऐसा दावा कर सकती है कि उसने साज़िश का पता लगा दिया है।

आखिर जहां तक पुलिस द्वारा कई अहम सुरागों को छोड़ देने की बात है तो अंग्रेजी साप्ताहिक 'आउटलुक' की राधिका कोप्पीकर को यहां उद्धृत करना समीचीन होगा (13 सितम्बर 2006, वेब पर)

“जांचकर्ता जितनी आसानी से किसी हिन्दुत्व संगठन के शामिल होने की बात को खारिज करते हैं उससे यह सामने आता है कि यह हकीकत है कि पुलिस ने कई सुरागों पर गौर नहीं किया है। उस 'फर्जी दाढ़ी' के मामले पर गौर करें, जैसा कि यहां कहा जा रहा है। अकील अहमद अन्सारी नामक दर्जी जो बड़ा कब्रिस्तान के करीब रहता है उसने पुलिस और आसपास खड़े लोगों को बताया था कि उसने साइकिल के पास पड़ी एक लाश उठायी थी और वह एम्ब्युलैन्स में बैठे

वालंटियरों को सौंपी थी। इस लाश का नीचला हिस्सा गायब था और एम्ब्युलैन्स में रखते वक्त उसकी दाढ़ी निकल आयी थी। कहने का तात्पर्य यही था कि वह फर्जी दाढ़ी थी और इसीलिये घटना को अंजाम देनेवालों में से किसी की वह लाश थी। इसे इत्तेफाक ही कहा जाना चाहिये कि वे दोनों अस्पताल जिन्होंने लाशों का पोस्ट-मार्टम किया, उन्होंने बताया कि उन्होंने 30 के करीब लाशों की शवपरीक्षा की है और इनमें से किसी भी लाश का नीचला हिस्सा गायब नहीं था।”

वे सभी जो महाराष्ट्र की हाल की साम्प्रदायिक परिस्थिति से वाकिफ हैं, 'फर्जी दाढ़ी' का महत्व जानते हैं। वह नादेड ही था, जहां अप्रैल माह में संघ से जुड़े एक व्यक्ति के घर पर हुए बम विस्फोट में बजरंग दल के दो कार्यकर्ता मारे गये थे, और जैसे कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, मारे गये लोगों के घर से फर्जी दाढ़ी तथा अल्पसंख्यकों द्वारा पहने जाने वाले ड्रेस भी बरामद हुए थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि अभी इस मसले को नये सिरे से देखने की जरूरत है, ताकि मासूमों के बहे खून के असली कातिलों की शिनाख्त हो सके। वरना अपने पक्षपाती रवैये के चलते घृणा का पात्र बनी महाराष्ट्र पुलिस और कितने मासूमों को 'अपराधी' घोषित करेगी इसका हिसाब लगाना भी मुश्किल होगा।

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका

नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 011-26177904

ईमेल : notowar@rediffmail.com

केवल सीमित वितरण के लिए